आगमोद्धारक-ग्रन्थमालायाः चतुस्त्रिंशं रत्नम्

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्री शान्तिसूरि-पुङ्गव विरचित—

धर्मरत्न प्रकरण ।

पू० आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि पुङ्गव विरचित टीका का

हिन्दी अनुवाद सहित

तीसरा भाग

संशोधक—

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर-

शिष्य शतावधानी - मुनि लाभसागर गणि

वीर सं. २४९३ वि. सं. २०२३ आगमोद्धारक सं. १७

प्रतयः ५००] [मूल्यम् ३=५०

आगमोद्धारक-ग्रन्थमालायाः चतुस्त्रिंशं रत्नम्

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्री शान्तिसूरि-पुङ्गव विरचित—

धर्मरत्न प्रकरण ।

पू० आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि पुङ्गव विरचित टीका का
हिन्दी अनुवाद सहित

तीसरा भाग

卐

संशोधक —
प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर-
शिष्य शतावधानी – मुनि लाभसागर गणि

वीर सं. २४९३ वि. सं. २०२३ आगमोद्धारक सं. १७

प्रतयः ५००] [मूल्यम् रु ५-०

प्रकाशकः—

आगमोद्धारक-ग्रंथमाला के एक कार्यवाहक
शा० रमणलाल जयचन्द
कपड़वंज (जि० खेड़ा)

द्रव्य-सहायकः—

५००) आगमोद्धारक-चरणोपासक मुनिवर्य श्री गुणसागरजी म० के उपदेश से देवबाग जैन संघ, जामनगर, ज्ञान खाता में से

पुस्तक-प्राप्तिस्थानः—

(१) श्री जैनानन्द-पुस्तकालय, गोपीपुरा, सुरत
(२) श्री ऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढ़ी खाराकुआ उज्जैन

प्रकाशकीय-निवेदन

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि० सं० २०१० की साल में कपड़वंज शहर में मीठाभाई गुलालचंद के उपाश्रय में चातुर्मास विराजे थे। उस वक्त विद्वान बाल दीक्षित मुनिराज श्री सूर्योदयसागरजी महाराज की प्रेरणा से आगमोद्धारक-ग्रंथमाला की स्थापना हुई थी। इस ग्रंथमाला ने अब तक काफी प्रकाशन प्रगट किये हैं।

सूरीश्वरजी की पुण्य कृपा से यह पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिपुंगव विरचित टीका का हिन्दी-अनुवाद सहित 'धर्मरत्न प्रकरण' का तीसरा भाग को आगमोद्धारक-ग्रंथमाला के ३४ वें रत्न में प्रगट करने से हमको बहुत हर्ष होता है।

इसका संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के तत्त्वावधान में शतावधानी मुनि श्री लाभसागर गणि ने किया है। उसके बदल उनका और जिन्होंने इसके प्रकाशन में द्रव्य और प्रति देने की सहायता की है। उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं।

लि०

प्रकाशक

किञ्चिद्-वक्तव्य

सुज्ञ विवेकी पाठकों के समक्ष भाव-साधु के लक्षणों का वर्णन-स्वरूप श्री धर्मरत्न-प्रकरण (हिन्दी-अनुवाद) का यह तीसरा भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस ग्रंथ-रत्न में भाव-साधु के सात लक्षणों का सुन्दर वर्णन कथाओं के साथ किया गया है। इस चीज को लेकर बाल-जीवों को यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

इस चीज को लक्ष्य में रखकर आगम-सम्राट् बहुश्रुत ध्यानस्थ स्वर्गत आचार्य श्री आनन्दसागरसूरीश्वरजी महाराज के सदुपदेश से वि० सं० १९८३ के चातुर्मास में वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के प्रथम शिष्य मुनिराज श्री अमृतसागरजी महाराज के आकस्मिक काल-धर्म के कारण उन पुण्यात्मा की स्मृति-निमित्त 'श्री जैन-अमृत-साहित्य-प्रचार समिति' की स्थापना उदयपुर में हुई थी। जिसका लक्ष्य था विशिष्ट-ग्रन्थों को हिन्दी में रूपान्तरित करके बाल-जीवों को हितार्थ प्रस्तुत किये जाय।

तदनुसार श्राद्ध-विधि (हिन्दी) एवं श्री त्रिषष्टीय-देशना संग्रह (हिन्दी) का प्रकाशन हुआ था, और प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद मुद्रण योग्य पुस्तिका के रूप में रह गया था। उसे पूज्य गच्छाधिपति श्री की कृपा से संशोधित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

विवेकी आत्मा इसे विवेक-बुद्धि के साथ पढकर जीवन को सफल बनावें।

लि०

संशोधक

विषयानुक्रम

शुद्धि-पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	विरचितं	विरचित
२	२१	मग्गगु	मग्गागु
८	१२	शरीर	करीर
८	१३	और श्वेत	धवल वृषभ
८	१८	योद्धी	योधी
८	१९	योध्दा	योद्धा
९	८	निषेध्य	निषेध
९	२०	त्रिउण	त्रिऊण
१७	१०	सालसढा न्न	सीलसढाइन्न
१८	१४	अशुध्द	अशुद्ध
२०	४	आनुपगिक	आनुपंगिक
२०	७	च णं	चरणं
२२	२२	भुजंतंमि	भुंजं तंमि
३२	१०	क	कि
३२	२१	अश्रम	आश्रम
३४	११	ससार	संसार
३५	९	दशन	दर्शन
३५	१४	फला	फैला
४८	९	रूदं	रूढं
४९	५	मूरिणो	सूरिणो
६५	७	मुज्झइ जीवो	जीवो मुज्झइ जीवो
८९	९	सव्वकंमि	सकंमि नो
९६	१२	प्रवृर्तमान	प्रवर्तमान
९७	१३	कातप	चतुर्थी को तप का तप
९८	२१	अर्धश्रुत	अर्थश्रुत
१००	२३	उहा	ऊहा
१०१	१४	नियमआ	नियमओ
१०१	१५	दोसो सज०	दोसे संज०
१२१	४	वम्भजुया	बंम्भजुया
१२३	१७	परिज्ञाय	परिज्ञाया
१३०	२३	अपरिश्रावी	अपरिस्रावी
१३१	१९	माठी	मीठी
१३४	१०	हप	हर्ष
१३७	१८	पापण	पोषण
१३८	२२	त्राहि	त्रोहि
१५४	७	पाप्र	पाप
१६७	५	शोपण	पोपण
१७२	२२	कहा	कहां
१७४	२२	सिद्व	सिद्ध
१७७	१८	निर्माण	निर्वाण

॥ णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक–आचार्यप्रवर–आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

आचार्यप्रवर – श्री शान्तिसूरि विरचितं

धर्मरत्न – प्रकरण

तृतीय–भाग

(अनुवाद सहित)

भावसाधु कैसा होता है ?

उत्तर—जो हमेशा निर्वाण साधक योग (व्यापार) का साधन करता हो और सर्व भूतों (जीवों) पर सम (सम दृष्टि रखने वाला) हो वह साधु कहलाता है ।

क्षान्ति आदि गुणों से युक्त हो, मैत्री आदि गुणों से भूषित हो, और सदाचार में अप्रमत्त हो, वह भावसाधु कहा गया है ।

वह भावसाधु है, इस प्रकार छद्मस्थ कैसे जान सकते हैं ?

लिंगों के द्वारा ।

वे लिंग कौनसे ? सो कहते हैं :—

एयस्स उ लिंगाइं सयला मग्गानुसारिणी किरिया ।
सद्धा पवरा धम्मे पन्नवणिज्जत्तमुजुभावा ॥७८॥

किरियासु अप्पमाओ आरंभो सक्कणिज्जणुट्ठाणे ।
गुरुओ गुणाणुराओ गुरु आणाराहणं परमं ॥७९॥

मूल का अर्थ--इसके लिंग ये हैं:--सर्व क्रिया मार्गानुसारिणी, धर्म में उत्कृष्ट श्रद्धा, सरल भाव होने से प्रज्ञापनीयत्व, क्रिया में अप्रमाद, शक्यानुष्ठान ही का प्रारंभ. विशेष गुणानुराग और गुरु की आज्ञा का पूर्णतया आराधन, ये सात लिंग हैं।

ये दो द्वार गाथाएँ हैं :

टीका का अर्थ—ये भावसाधु के लिंग-चिह्न ये हैं:-सकल-समस्त मार्गानुसारिणी याने मोक्षमार्ग को अनुसरण करनेवाली प्रत्युपेक्षणादिक क्रिया, तथा धर्म याने संयम में प्रवर श्रद्धा याने करने की इच्छा, तथा ऋजुभाव से अर्थात् अकुटिलता से प्रज्ञापनीयत्व, अर्थात् असद् अभिनिवेश का त्याग, तथा क्रिया अर्थात् विहित किये हुए अनुष्ठान में अप्रमाद याने अशिथिलता, तथा शक्य याने शक्ति के अनुसार तपश्चरणादिक अनुष्ठान में आरम्भ याने प्रवृति, तथा महान् गुणानुराग याने गुणपक्षपात, तथा गुर्वाज्ञाराधन याने धर्माचार्य के आदेशानुसार वर्त्ताव, इन सर्व गुणों में प्रधान, इस प्रकार भावसाधु के सात लक्षण हैं। यह द्वारगाथाओं का संक्षेपार्थ है। विस्तार पूर्वक अर्थ तो सूत्रकार स्वयं ही कहते हैं-

मग्गो आगमनीई-अहवा संविग्गबहुजणाइन्नं ।
उभयाणुसारिणी जा सा मग्गणुसारिणी किरिया ॥८०॥

मूल का अर्थ—मार्ग सो आगम नीति अथवा संविग्न बहुत जनों का आचरण किया हुआ सो, इन दोनों के अनुसार जो क्रिया वह मार्गानुसारिणी है।

टीका का अर्थ--इच्छित स्थान को जाने के लिये जिसे माँगें-खोजें सो मार्ग, वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उसमें द्रव्यमार्ग सो ग्रामादिक का और भावमार्ग सो मुक्तिपुर का मार्ग। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप अथवा क्षायोपशमिक भाव-रूप है। वही भावमार्ग यहाँ लेना है। यह मार्ग सो कारण में कार्य का उपचार करते हुए आगम-नीति याने सिद्धान्त में कहा हुआ आचार जानो, अथवा बहुत से संविग्न पुरुषों द्वारा मिलकर किया हुआ आचार, ऐसे दो प्रकार का मार्ग है।

वहां आगम याने वीतराग का वचन, क्योंकि कहा है कि आगम सो आप्त-वचन है। जिसके दोष क्षय हो गये हों, वह आप्त है, क्योंकि जो वीतराग होता है, वह झूठ नहीं बोलता, क्योंकि उसे झूठ बोलने का कोई कारण नहीं रहता। उसकी नीति याने उत्सर्गापवाद रूप शुद्ध संयम पालने का उपाय सो मार्ग। क्योंकि कहा है कि—जगत में अन्तरात्मा को वचन ही प्रवर्तक और निवर्त्तक है, और धर्म भी इसके आधार पर है, इसलिये हमको वह मुनीन्द्र प्रवचन ही प्रमाण है।

जो यह प्रवचन हृदय में हो तो परमार्थ से मुनीन्द्र ही हृदयस्थ माने जाते हैं और वे हृदयस्थ होवें तो नियम से सकल अर्थ की सिद्धि होती है। तथा संविग्न याने मोक्ष के अभिलाषी जो बहुत से जन अर्थात् गीतार्थ-पुरुष, क्योंकि—दूसरों को संवेग नहीं होता, उन्होंने जो क्रिया की वह भी मार्ग है। ऐसा कहने से यहां असंविग्न बहुत होते हुए भी उनकी अप्रमाणता बताई। क्यों सूत्र के भाष्य में कहा है कि—

जं जीयमसोहिकरं पासत्थपमत्त संजयाईहिं।
बहुएहिवि आयरियं न पमाणं सुद्धचरणाणं (ति)॥

किरियासु अप्पमाओ आरंभो सक्कणिज्जगुट्ठाणे ।
गुरुओ गुणाणुराओ गुरुआणाराहणं परमं ॥७९॥

मूल का अर्थ—इसके लिंग ये हैं:—सर्व क्रिया मार्गानुसारिणी; धर्म में उत्कृष्ट श्रद्धा, सरल भाव होने से प्रज्ञापनीयत्व, क्रिया में अप्रमाद, शक्यानुष्ठान ही का प्रारंभ, विशेष गुणानुराग और गुरु की आज्ञा का पूर्णतया आराधन; ये सात लिंग हैं ।

ये दो द्वार गाथाएं हैं :

टीका का अर्थ—ये भावसाधु के लिंग-चिह्न ये हैं:-सकल-समस्त मार्गानुसारिणी याने मोक्षमार्ग को अनुसरण करनेवाली प्रत्युपेक्षणादिक क्रिया, तथा धर्म याने संयम में प्रवर श्रद्धा याने करने की इच्छा; तथा ऋजुभाव से अर्थात् अकुटिलता से प्रज्ञापनीयत्व, अर्थात् असद् अभिनिवेश का त्याग, तथा क्रिया अर्थात विहित किये हुए अनुष्ठान में अप्रमाद याने अशिथिलता, तथा शक्य याने शक्ति के अनुसार तपश्चरणादिक अनुष्ठान में आरम्भ याने प्रवृत्ति, तथा महान् गुणानुराग याने गुणपक्षपात, तथा गुर्वाज्ञाराधन याने धर्माचार्य के आदेशानुसार वर्त्ताव, इन सर्व गुणों में प्रधान; इस प्रकार भावसाधु के सात लक्षण है । यह द्वारगाथाओं का संक्षेपार्थ है । विस्तार पूर्वक अर्थ तो सूत्रकार स्वयं ही कहते हैं-

टीका का अर्थ--इच्छित स्थान को जाने के लिये जिसे माँगें-खोजें सो मार्ग, वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उसमें द्रव्यमार्ग सो ग्रामादिक का और भावमार्ग सो मुक्तिपुर का मार्ग। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप अथवा क्षायोपशमिक भाव-रूप है। वही भावमार्ग यहाँ लेना है। यह मार्ग सो कारण में कार्य का उपचार करते हुए आगम-नीति याने सिद्धान्त में कहा हुआ आचार जानो, अथवा बहुत से संविग्न पुरुषों द्वारा मिलकर किया हुआ आचार, ऐसे दो प्रकार का मार्ग है।

वहां आगम याने वीतराग का वचन, क्योंकि कहा है कि आगम सो आप्त-वचन है। जिसके दोष क्षय हो गये हों, वह आप्त है, क्योंकि जो वीतराग होता है, वह झूठ नहीं बोलता, क्योंकि उसे झूठ बोलने का कोई कारण नहीं रहता। उसकी नीति याने उत्सर्गापवाद रूप शुद्ध संयम पालने का उपाय सो मार्ग। क्योंकि कहा है कि--जगत में अन्तरात्मा को वचन ही प्रवर्तक और निवर्त्तक है, और धर्म भी इसके आधार पर है, इसलिये हमको वह मुनीन्द्र प्रवचन ही प्रमाण है।

जो यह प्रवचन हृदय में हो तो परमार्थ से मुनीन्द्र ही हृदयस्थ माने जाते हैं और वे हृदयस्थ होवें तो नियम से सकल अर्थ की सिद्धि होती है। तथा संविग्न याने मोक्ष के अभिलाषी जो बहुत से जन अर्थात् गीतार्थ-पुरुष, क्योंकि--दूसरों को संवेग नहीं होता, उन्होंने जो क्रिया की वह भी मार्ग है। ऐसा कहने से यहां असंविग्न बहुत होते हुए भी उनकी अप्रमाणना बताई। क्योंकि सूत्र के भाष्य में कहा है कि--

जं जीयमसोहिकरं पासत्थपमत्त संजयाईहिं।
बहुएहिवि आयरियं न पमाणं सुद्धचरणाणं (ति)।

जो जीत अशुद्धिकारक और पार्श्वस्थ प्रमादी संयतों ने आचरा हो, वह अधिक का आचरित हो तो भी शुद्ध चारित्र वाले को प्रमाण नहीं है। बहुजन इसलिये कहे कि-एकाध संविग्न कभी अनाभोग और अनवबोध आदि से वितथ आचरण भी करे, अतः वह अकेला प्रमाण नहीं माना जाता। इसलिये संविग्न बहुजनाचरित हो, सो मार्ग है। इसके लिये कहते हैं कि-उभयानुसारिणी अर्थात् आगम की अबाधा से संविग्नों से आचराती जो क्रिया, सो मार्गानुसारिणी क्रिया है।

पूर्व पक्ष-आगम ही को मार्ग कहना युक्त है। बहुजनाचीर्ण को मार्ग ठहराना अयुक्त है। क्योंकि-उसमें शास्त्रान्तर के साथ विरोध पड़ता है तथा आगम अप्रमाणभूत हो जाता है। वह इस प्रकार कि-जो बहुजन प्रवृत्ति मात्र ही को कबूल रखें, तो लौकिक-धर्म छोड़ना योग्य नहीं होगा, क्योंकि-उसमें बहुत से मनुष्य प्रवृत्त होते हैं। अतएव जो आज्ञा के अनुसार हो, वही समझदार पुरुष ने करना चाहिये। बहुजनों का क्या काम है? कारण कि-कल्याणार्थी बहु नहीं होते।

जहां तक उचित ज्येष्ठ विद्यमान हो, वहां तक अनुज्येष्ठ को पूजना अयुक्त माना जाता है। वैसे ही भगवान का प्रकट वचन मिल जाने पर भी लोक का उदाहरण देना अयुक्त ही है। आगम को तो केवली भी अप्रमाणित नहीं करते। यतः श्रुतानुसार उपयोगवन्त रहकर श्रुतज्ञानी जो अशुद्ध आहार ले आवे तो उसे केवली भी खाते हैं। अन्यथा आगम अप्रमाण हो जाता है। और आगम कायम होते भी आचरित को प्रमाण करें तो आगम की स्पष्टतः लघुता होती है।

उत्तर-यह बात इस प्रकार नहीं। क्योंकि-इस सूत्र का और शास्त्रान्तर का विषय-विभाग तुम्हें ज्ञात नहीं है।

विषय-विभाग इस प्रकार है कि-इस सूत्र में यह कहना है कि-संविग्न गीतार्थ आगम से निरपेक्ष आचरण नहीं करते किन्तु "जिसके द्वारा दोष रुकें व पूर्व के कर्मक्षय हों, वही मोक्ष का उपाय है। जैसा कि-शमन (औषध) रोग की अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न उपाय हैं।" इत्यादि आगम-वचन याद करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पुरुषादिक की योग्यता विचार करके संयम की वृद्धि करने वाला ही जो हो, सो आचरते हैं और उसे अन्य संविग्न गीतार्थ भी प्रमाण करते हैं, वह मार्ग कहलाता है।

तुम्हारे कहे हुए शास्त्र के प्रमाण तो असंविग्न और अगीतार्थ लोग जो कुछ असमंजस आचरते हैं, उसके आश्रित कहे हैं। अतएव उनके साथ कैसा विरोध संभव है? और इस प्रकार आगम अप्रमाण नहीं होता, परन्तु उलटी उसकी मजबूत स्थापना होती है। इसीसे आगम में भी आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत के भेद से पांच प्रकार के व्यवहार प्ररूपित किये गये हैं।

यथा-श्री स्थानाङ्गसूत्र में कहा है कि:—

व्यवहार पांच हैं:—आगम व्यवहार, श्रुत-व्यवहार, आज्ञा-व्यवहार, धारणा-व्यवहार और जीत-व्यवहार। जीत और आचरित ये एक ही हैं इसलिए आचरित को प्रमाण करते आगम प्रमाण ही हुआ, इसलिये आगम से अविरुद्ध आचरित हो सो प्रमाण है, यह निश्चय हुआ, इसीसे कहते हैं कि:—

अन्नह भणियंपि सुए किंचि कालाइकारणाविक्खं।
आइन्नमन्नहच्चिय दीसइ संविग्ग-गीएहिं ॥८१॥

मूल का अर्थ—श्रुत में अन्यथा कहा हुआ होने पर भी कालादिक कारण की अपेक्षा से संविग्न गीतार्थों ने कुछ अन्यथा ही आचरा दीखता है।

टीका का अर्थ—श्रुत अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत आगम, उसमें अन्यथा अर्थात् दूसरी रीति से कही हुई कोई बात, कालादिक कारण की अपेक्षा से अर्थात् दुषमकाल आदि का स्वरूप विचार करके संविग्न गीतार्थों ने भिन्न ही रीति से आचरी हुई प्रत्यक्ष दीखती है।

वे कौन-कौन सी बातें हैं सो कहते हैं:—

कप्पाणं पावरणं -अग्गोयरचाउ झोलियाभिक्खा ।
ओवग्गहियकडाहय–तुंबयमुहदाण दोराई ॥८२॥

मूल का अर्थ—कल्पों का प्रावरण, अग्रावतार का त्याग, झोली द्वारा भिक्षा, और कटाहक, तुंबक मुख दान, डोरा औपग्रहिक उपकरण।

टीका का अर्थ—कल्पों याने साढ़े तीन हाथ लम्बे और अढ़ाई हाथ चौड़े आगम में बताये हुए वस्त्रों का प्रावरण याने चारों ओर लपेट कर पहिरना। आगम में ऐसा कहा है कि—कारणवश गोचरी को जाते वे वस्त्र लपेटे हुए ही कंधे पर रखना, पर अभी वे पहिरे जाते हैं।

अग्रावतार याने एक जाति का नीचे पहिरने का वस्त्र, जो कि साधुजन में प्रसिद्ध है। उसका त्याग अर्थात् चोलपट्टे के लिये किया हुआ फेरफार तथा झोली अर्थात् दो गांठ

लगा कर पात्र बांधना सो, उससे भिक्षा। आगम में पात्र बंध के दो किनारे मुट्ठी में पकड़ने के तथा दो कोहनी के पास बांधने के कहे हैं, तथा औपग्रहिक उपकरण रखना जैसे कि–कटाहक, तुम्बे का ढकन तथा डोरे आदि ये सब प्रसिद्ध ही हैं। ये सब अभी साधुओं के आचरित हैं।

सिक्किगनिक्खिवणाई पज्जोसवणाइ तिहिपरावत्तो।

भोयणविहिअन्नत्तं एमाइ विविहमन्नं पि ॥८३॥

मूल का अर्थ—सीके में पात्र निक्षेप करना आदि, पर्यूषणादिक तिथियों का फेरफार, भोजन विधि का फेरफार आदि बहुत सी बातें (आचरित हैं)।

टीका का अर्थ—सीका याने डोरे का बनाया हुआ भाजन का आधार। उसमें निक्षेपण करना, अर्थात् पात्र बांधकर रखना, आदि शब्द से युक्तिलेप से (आजकल के बने हुए लेप से) पात्र रंगना आदि तथा पर्युषणादि तिथि परावर्त–वहां पर्युषणा याने संवत्सरी पर्व और आदि शब्द से चातुर्मासिक लेना। इन दो का तिथि परावर्त्त अर्थात् तिथि फेर, जो कि प्रसिद्ध ही है। तथा भोजन विधि का अन्यत्व (फेरफार), जो कि यतिजन में प्रसिद्ध ही है वह इत्यादि याने कि–षड्जीवनी अध्ययन सीख जाने पर भी शिष्य को बड़ी दीक्षा देना आदि गीतार्थों ने स्वीकृत की हुई अन्य विविध आचरणाएं प्रमाणभूत ही हैं, ऐसा समझना।

क्योंकि व्यवहार-भाष्य में कहा है कि–शस्त्र परिज्ञा के बदले छकाय संजम, पिंडेषणा के बदले उत्तराध्ययन, तथा वृक्ष-वृषभ गोप-योध-शोधि और पुष्करिणी के दृष्टांत दिये हैं।

सत्थपरिन्ना छक्काय संजमो पिंड उत्तरज्झाए।
रुक्खे वसहे गोये जोहे सोही य पुक्खरिणी ॥१॥

इस गाथा का संक्षेप में अर्थ यह है कि:—शस्त्र परिज्ञा अध्ययन सूत्र और अर्थ से जाने बाद भिक्षु को बड़ी दीक्षा देना। ऐसी महाप्रभावी जिन-प्रवचन की मर्यादा थी। उसके बदले जीत ऐसा चलता है कि षट्काय का संयम अर्थात् दशवैकालिक का षट्जीवनिका नामक चौथा अध्ययन जान लेने पर भिक्षु को बड़ी दीक्षा देना। व पिंडेषणा अध्ययन सीखने के बाद उत्तराध्ययन सीखा जाता था। उसके बदले अभी उत्तराध्ययन सीख कर पिंडेषणा सीखा जाता है।

पूर्व में कल्पवृक्ष लोक के शरीर की स्थिति करते थे। इस समय आम और शरीर से भी काम चलता है। पूर्व में बैल बहुत बलवान और श्वेत थे। इस समय लोग धूसर बैलों से भी काम चला लेते हैं। तथा गोर याने कृषक पूर्व में चक्रवर्ती के गृहपति रत्न के समान उसी दिन धान्य उत्पादन कर सकते थे। इस समय वैसे न होने पर भी साधारण कृषकों से भी लोग निर्वाह कर लेते हैं।

तथा पूर्व में सहस्त्रयोद्धी (एक ही समय सहस्त्र मनुष्यों से लड़ने वाले) योद्धा थे, तो इस समय थोड़े बल पराक्रम वाले योद्धाओं से भी राजा शत्रु को जीत कर राज्य पालन करते हैं।

इसी प्रकार साधु भी जीत-व्यवहार से भी संयम का आराधना कर सकते हैं। यह उपरोक्त दृष्टान्तों का उपनय है। तथा शोधि याने प्रायश्चित पूर्व में छः मासी का आता था। उसके स्थान में जीत-व्यवहार में बारस (पांच उपवास) का कहा है।

... पुष्करिणियां (बावड़ियां) भी पूर्व की अपेक्षा हीन होते भी लोगों के काम आती हैं। यहां भी पूर्व के समान दार्ष्टान्तिक जोड़ लेना चाहिये।

इस भांति अनेक प्रकार से जीत उपलब्ध होती है। अधिक क्या कहा जाय?

जं पव्वहा न सुत्ते, पडिसिद्धं नेव जीववहहेऊ।
तं सव्वंपि पमाणं-चारित्तधणाण भणियं च ॥८४॥

मूल का अर्थ—जो सूत्र में सर्वथा निषेध्य न हो, और जीव वध का हेतु न हो, वह सर्व चारित्रवन्तों को प्रमाण है।

टीका का अर्थ—जो सर्वथा सर्व प्रकार से सूत्र में सिद्धान्त में प्रतिषिद्ध याने निवारित किया न हो, मैथुन सेवन के समान। कहा भी है कि—

जिनेश्वर ने एकान्त में कुछ भी अनुज्ञात नहीं किया। वैसे ही मैथुन छोड़कर एकान्त में कुछ प्रतिषिद्ध भी नहीं किया। कारण कि-मैथुन तो राग-द्वेष बिना हो सकता ही नहीं। जिससे उसे एकान्त में निषेध किया है। तथा जो आधा-कर्म ग्रहणवत् जीववध का कारण भी न हो, वैसा सर्व अनुष्ठान चारित्र को धन गिनने वाले चारित्रिक साधुओं को प्रमाण है। क्योंकि-वैसी आगम की अनुज्ञा है। पूर्वाचार्यों ने जो कहा है सो बताते हैं—

अवलंबिऊण कज्जं जं किंपि समायरंति गीयत्था।
थोवावराहबहुगुण सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥८५॥

मूल का अर्थ—कार्य का अवलंबन करके गीतार्थ जो कुछ थोड़े अपराध और बहु गुणवाला काम करते हैं, वह सबको प्रमाण रहता है।

टीका का अर्थ—संयमोपकारी काम के आश्रय से आगम के ज्ञाता पुरुष जो कुछ समाचरते हैं, अर्थात् सिद्धान्त के अनुसार संगतपन से सेवन करते हैं। वह कैसा कि—स्तोकापराध अर्थात् जिसके करने से अल्प दोष लगता है ऐसा, क्योंकि—निष्कारण सेवन करने से प्रायश्चित लगता ही है, तथा बहु गुण याने गुरु, ग्लान, बाल, वृद्ध, क्षपणक आदि को सहारा देने वाला होने से अधिक लाभप्रद हो, जैसे कि—मात्रक का परिभोग, वह सब चारित्रवन्तों को प्रमाण ही रहता है। आर्यरक्षितसूरि ने जो आचरण किया, सो दुर्बलिका पुष्यमित्र ने स्वीकृत किया।

आर्यरक्षितसूरि और दुर्बलिका पुष्यमित्र की कथा इस प्रकार है—

यहां दशपुर नगर में सोमदेव ब्राह्मण के वंश में सूर्य समान और गंभीर बुद्धिमती रुद्रसोमा की कुक्षि रूप सरोवर में राजहंस समान पाटलीपुत्र से चौदह विद्या पढ़कर आये हुए, और उससे संतुष्ट हुए राजा द्वारा बड़ी धूमधाम से नगर में प्रवेश कराये हुए, नगरजन को आनन्दित करने वाले, माता के वाक्य से दृष्टिवाद सूत्र को पढ़ने के लिये श्री तोसलीपुत्र सूरि से दीक्षा ग्रहण करने वाले, श्री वैरस्वामी से साढ़े नव पूर्व सीखने वाले, अपने लघु बांधव फल्गु-रक्षित व माता आदि लोगों को दीक्षा दिलाने वाले तथा अनेक उपाय करके पिता को चारित्र ग्रहण कराने वाले और उन्होंने जिनको कमर में डोरा बांधा, ऐसे श्री आर्यरक्षित नामक युगप्रधान आचार्य थे।

उनके विनय-विनीत और विशिष्ट लब्धिवान् तीन शिष्य थे,

उनके नाम ये हैं:— घृतपुष्यमित्र, वस्त्रपुष्यमित्र और दुर्बलिका-पुष्यमित्र।

उनमें घृत-पुष्यमित्र की ऐसी चमत्कारिक लब्धि थी कि-द्रव्य से घी लाना, क्षेत्र से उज्जयिनी में से, काल से ज्येष्ठ आषाढ़ में, भाव से समीप ही प्रसव करने वाली दरिद्र स्त्री का दिया हुआ, गच्छ को आवश्यकता हो उतना।

वस्त्र-पुष्यमित्र की यह लब्धि थी कि-द्रव्य से वस्त्र लाना, क्षेत्र से मथुरा नगरी में से लाना, काल से शिशिर ऋतु में और भाव से दरिद्र विधवा के हाथ से, सारे गच्छ को पूर्ण हो उतने परिमाण का।

दुर्बलिका-पुष्यमित्र की यह लब्धि थी कि-वे नव पूर्व पढ़कर उनको सदैव परावर्तन करते थे, जिससे वे अतिशय दुर्बल हो गये थे। उनके (दुर्बलिका-पुष्यमित्र के) दशपुर नगर में दशबल (बुद्ध) के भक्त बहुत से सम्बन्धी थे। वे कौतुक से गुरु के पास आ कहने लगे-

आपमें ध्यान नहीं, हमारे भिक्षु सदैव ध्यान में तत्पर रहते हैं। तब गुरु बोले कि-ध्यान तो हमारे ही में अति प्रधान है। जिससे यह तुम्हारा सम्बन्धी ध्यान ही से दुर्बल हो गया है। तब वे बोले कि-यह घर में था तब स्निग्ध आहार करता था, उसीसे बलवान था। किन्तु अब उसे वह नहीं मिलने से दुर्बल हो गया है। तब गुरु बोले कि-यह तो यहां भी कभी घी रहित खाता ही नहीं।

वे बोले कि-इसको तुम्हें किससे खबर मिलती है? गुरु ने कहा कि-इस घृतपुष्य से-तथापि उन्होंने यह बात नहीं मानी।

तब उनको समझाने के लिये गुरु उसे वहां भेजने लगे। अब वे उसे स्निग्ध व चिकना आहार देते और वह लेता था।

पश्चात् वह खाकर पूर्वों को स्मरण करता जिससे वह वैसा ही बना रहा। तब वे उसे उससे भी बलिष्ट भोजन देने लगे तथापि यह तो कृश ही रहा तब वे देते देते थक गये, तो गुरु ने कहा कि-हे पुष्यमित्र! आज से कृश मत हो और थोड़े दिन अंत-प्रान्त (हलका) भोजन करता रह।

वैसा ही करते उसका शरीर बलवान् और तेजस्वी होने लगा और थोड़े ही दिनों में उसके गाल व कपोल रक्त से भर गये।

यह महान् आश्चर्य देख कर प्रतिबोध पा, बुद्धधर्म छोड़कर उन्होंने रक्षित-स्वामी से गृहस्थ-धर्म अंगीकृत किया।

उस गच्छ में दुर्बलिका पुष्यमित्र, विंध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल ये चार जन प्रधान (प्रसिद्ध) थे। वहां विंध्याचल के समान स्व समय के सूत्रार्थ रूप हाथियों का आधार रूप विंध्य एक समय आचार्य को भक्ति पूर्वक इस प्रकार विनन्ती करने लगा।

हे प्रभु! सूत्र मंडली में तो मुझे अनुक्रमानुसार दीर्घकाल में लाभ मिलता है। अतएव मुझे पृथक् वाचनाचार्य दीजिए। तब गुरु ने उसे पुष्यमित्र वाचनाचार्य दिया।

अब वह कितनेक दिन वाचना देकर गुरु को कहने लगा कि-हे प्रभु! वाचना देते और सम्बन्धियों के घर रहते मैं अनुप्रेक्षा नहीं कर सकता, जिससे मैं पांच वस्तुएं भूल गया हूँ और अब ऐसा न हो कि नवमां पूर्व भी भूल जाऊं। यह सुनकर गुरु सोचने

लगे कि–ऐसे महा बुद्धिमान को भी जबकि इस प्रकार विस्मरण हो जाता है, तो दूसरे को तो नष्ट हुआ ही मानना चाहिये।

पश्चात् उन्होंने अतिशय उपयोग करके देखा तो शेष पुरुष उनको मति, मेधा, और धारणा आदि से बिलकुल हीन जान पड़े। तथा क्षेत्र व काल भी हीन जान पड़े। जिससे उन्होंने विचार किया कि–अपरिणामी और अति-परिणामी लोग नयों का स्वविषय क्या है? यह न जानते केवल नय मात्र पकड़कर विरोध मान लेकर ऐसा न हो कि– मिथ्यात्व में पड़ जायें, इसलिये, वे मिथ्यात्व में न पड़ें, ऐसा विचार करके उन्होंने गूढ़ नय वाले अनुयोग को पृथक् कर दिया।

वह इस प्रकार कि–उन्होंने कालिक श्रुत तथा छेदसूत्र आदि को चरण करणानुयोग में स्थापित किये। ऋषिभाषित आदि को धर्मकथानुयोग में स्थापित किये। सूरपन्नति और चंदपन्नति को गणितानुयोग में स्थापित की और सम्पूर्ण दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग में स्थापित किया।

दशपुर नगर में सांटे के वाड़ में वे एक समय रहे थे। तब उन्होंने साधुओं को वर्षाकाल में पानी रखने के लिये मात्रक का उपयोग करने की अनुज्ञा करी। तथा उन्होंने साध्वियों को आलोचना, व्रतस्थापना तथा छेदसूत्र सीखने की बातें आगम में बताई हुई होने पर भी काल व भाव को देखकर बन्द करी। उक्त अशठ आचार्य ने उस समय जो कुछ निरवद्य कहा उसे अन्य मार्गानुसारिणी बुद्धिवाले पुरुषों ने भी अनुमत रखा।

प्रसरित भारी अज्ञान रूप अंधकार से नष्ट होने वाले जंतुओं को बचाने के लिये उत्तम दीपक समान वे आचार्य एक समय

मथुरापुरी में आये। वहां वे भूतगुफा में एक व्यन्तर के भवन में, सपरिवार रहे। इतने में सीमंधर स्वामी के पास इन्द्र निगोद का विचार सुनकर पूछने लगा कि—हे स्वामिन्! भरतक्षेत्र में भी कोई निगोद के जीव को विचारता है? भगवान ने कहा कि—रक्षितार्य मेरे समान ही विचारते हैं। तब इंद्र ब्राह्मण का रूप करके यहां आकर निगोद की बात पूछने लगा, तो गुरु ने असंख्याता गोला आदि सम्पूर्ण वर्णन कहा।

पुनः इन्द्र बोला कि—हे भगवान! वृद्धावस्था से अब अनशन करना चाहता हूँ इसलिये कहिये कि—मेरा आयुष्य कितना है? तब श्रुत के उपयोग से सूरि देखने लगे तो कुछ कम दो सागरोपम आयुष्य जान पड़ा। तब वे बोले कि—तू इन्द्र है। यह सुन, इन्द्र अपना मूल रूप प्रकट करके इस प्रकार स्तुति करने लगा।

अतिशय रहित काल में भी जिनको तीनों जगत को विस्मित करने वाला निर्मलज्ञान स्फुरित होता है ऐसे हे नाथ! आपको नमस्कार हो ओ। जिनागम के अनुसार शुद्ध समाचार का आचरण करने में प्रवृत्त और राग, द्वेष रूप जलराशि का शोषण करने में अगस्त्य ऋषि समान, हे मुनीन्द्र! आप जयवान रहो।

इस प्रकार स्तुति करके इन्द्र ज्योंही स्वस्थान को जाने लगा, तो गुरु ने कहा कि—थोड़ी देर ठहर जाओ, ताकि मुनिगण भिक्षा लेकर यहां आ जावें। क्योंकि—हे इन्द्र! तुमको देखकर आज भी शीलाङ्ग के संग से सुभग मन वाले मुनियों को इन्द्र नमता है, यह सोचकर उनको स्थिरता होगी। तब इन्द्र बोला कि—हे मुनिनाथ! वे अल्पसत्व मुझे विशिष्ट रूप वाला देखकर नियाणा करेंगे, इसलिये मैं अपने स्थान को चला जाता हूं। यह कह वह उपाश्रय का द्वार जो कि पूर्वमुख था उसे पश्चिम मुख करके, मुनीन्द्र को नमन कर इन्द्र अपने स्थान को गया।

इतने में मुनिगण वहां आ पहुंचे। वे बोले कि–द्वार कहां है? तब गुरु बोले कि, इस ओर से आओ। पश्चात् इन्द्र के आगमन की बात कही। वे बोले कि–थोड़ी देर उसे रोका क्यों नहीं? तब गुरु ने वसति का द्वार फेरने तक का सकल वृत्तान्त कह सुनाया।

एक समय वे भगवान विचरते-विचरते दशपुर नगर में गये। इतने में इधर मथुरा में एक प्रबल नास्तिकवादी उठा। तब सद्गुण के संघ समान संघ ने उक्त आर्यरक्षित युगप्रधानागम के पास साधु का संघाटक भेजा। तब उन्होंने गोष्ठामाहिल नामक अपने मामा को वहां भेजे। वे महान् वादलब्धियुक्त थे। अतः उन्होंने शीघ्र ही उक्त वादी को जीत लिया। जिससे वहां के श्रावकों ने हर्षित होकर उनको वहां चातुर्मास करने को रोके। इधर रक्षितसूरि ने अपना आयुष्य बहुत थोड़ा जानकर निपुणबुद्धि से विचार किया कि–गणधर (गच्छनायक) किसे करना चाहिये? तब दुर्बलिका-पुष्यमित्र उनको आचार्य-पद के योग्य जान पड़े। किन्तु उनके जो स्वजन सम्बन्धी थे, उनको फल्गुरक्षित मुनि अथवा उनका मामा विशेष अभिमत था, जिससे उन्होंको गुरु ने कहा कि—

यहां वाल तैल और घी के घड़े औंधे करें तो वाल सब ढुल जावें, तैल थोड़ा सा चिपका रहे और घी अधिक रहे। इस प्रकार दुर्बलिका-पुष्यमित्र के प्रति मैं सूत्रार्थ ढोलने में वाल के घड़े के समान हूँ। फल्गुरक्षित के प्रति तैल के घड़े के समान हूं और गोष्ठा-माहिल के प्रति घी के घड़े के समान हूँ। इस कारण से हे भद्रों! सूत्र अर्थ और तदुभय को धारण करने
श्रद्धा संवेग सहित, सुमतिवान, सत्क्रिया करने में रक्त,
उक्त समान गुणवाला, और स्वसमय-परसमय का ज्ञाता

लिका-पुष्यमित्र तुम्हारा गुरु हो ओ। तब उन्होंने भी मस्तक पर अंजली जोड़कर उस बात को वैसी ही स्वीकृत की।

गणधर यह शब्द गौतमादिक धीर पुरुषों ने धारण किया है। अतः जो जानता हुआ उसे अपात्र में स्थापित करे वह महापापी माना जाता है। यह सोचकर गुण के पक्षपाती आचार्य ने शास्त्र विधि से पुष्यमित्र को आचार्य पद पर स्थापित करके इस प्रकार शिक्षा दी।

हे वत्स ! फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल की ओर मैंने जिस प्रकार वर्त्ताव किया है उसी प्रकार तूं भी करना। तब उसने भी वह बात स्वीकृत की। उन्होंने स्वजनों को कहा कि-जैसे तुमने मेरी ओर सदैव वर्ताव किया है उसी भांति इन मुनिनाथ की ओर भी विनयवन्त होकर वर्ताव करना। तुम (मेरा विनय) करते वा न करते तो भी कभी भी रुष्ट नहीं हुआ। किन्तु ऐसा वे सहन नहीं कर सकेंगे, अतएव इनकी ओर ठीक तरह से वर्ताव करना। इस भांति दोनों वर्गों को हितकारक वचनों द्वारा प्रसन्न करके भक्तप्रत्याख्यान करके आचार्य स्वर्ग को पहुँचे।

पश्चात् दुर्बलिका-पुष्यमित्र गणधर सकल सन्देह दूर करते हुए, मार्गानुसारी क्रिया में तत्पर रह कर भव्यजनों को हर्षित करते हुए, अतिअनिष्ट और दुष्ट कदाग्रह से आहत हुए लोगों के अभिमान रूप बादल को पवन के समान तोड़ते रहकर अपने गच्छ की स्वस्थता संपादन कर, अनुक्रम से सुख के भाजन हुए।

इस प्रकार श्री पुष्यमित्र मुनीश्वर का त्रैलोक्य में पवित्र वृत्तान्त सुनकर मुमुक्षु जनों ! मार्गानुसारी क्रिया में प्रयत्न-वान बनो।

इस प्रकार दुर्बलिका-पुष्यमित्र की कथा पूर्ण हुई।

यहां कोई-कोई ऐसा कहते हैं:—जो इस प्रकार आचरित को तुम प्रमाण करते हो तो हमारे पिता-पितामह अनेक आरम्भ और मिथ्यात्व की क्रिया में प्रवृत्ति करने वाले थे। इसलिये हमको भी वैसी ही प्रवृत्ति करना चाहिये।

यहां इस प्रकार उत्तर है कि—हे सौम्य! सीधे मार्ग में दौड़ते उलटे मार्ग में मत जा। क्योंकि–हमने तो संविग्न–जनों के आचरित ही को स्थापित किया है। सर्व पूर्वपुरुषों के आचरित को नहीं। इसी कारण से कहते हैं कि—

जं पुण पमायरूवं गुरु–लाघवचिंतविरहियं सवहं।
सुहसीलसढा न चरित्तिणो तं न सेवंत ॥८६॥

मूल का अर्थ—जो सुखशील-जनों ने गुरु–लाघव विचारे विना प्रमादरूप हिंसा वाला काम किया हो उसे चारित्रवान् पुरुष नहीं करते।

टीका का अर्थ –जो आचरित संयम को बाधा करने वाला होने से प्रमादरूप हो और उसीसे गुरु–लाघवचिंता रहित हो, अर्थात् सगुण है कि निर्गुण है, ऐसी पर्यालोचना से वर्जित हो और इसीसे यतना न होने के कारण सवध (हिंसायुक्त) हो और सुखशील अर्थात् इस लोक ही के सुख में प्रतिबद्ध, तथा शठ अर्थात् मिथ्या आलंबन लेने वाले जनों ने आचरण किया हो, उसे शुद्ध चारित्र वाले नहीं सेवन करते। इसी बात का उल्लेख बताते हैं—

जह सड्ढेसु ममत्तं, राढाइ असुद्ध उवहिभत्ताई।
निद्दिज्जवसहि तूली, मसूरगाईण परिभोगो ॥८७॥

मूल का अर्थ—जैसे कि–श्रावकों में ममत्व करना, शोभा के लिये अशुद्ध वस्त्र, पात्र तथा आहार ग्रहण करना, कायम रूप से दी हुई वसति अंगीकृत करना तथा गादी, तकिये आदि का उपयोग करना (यह सब प्रमाद है)

टीका का अर्थ—जैसे कि–दृष्टान्त रूप से श्रावकों में ममत्व ममकार अर्थात् यह श्रावक मेरा ही है, ऐसा गाढ़ आग्रह आगम में निषिद्ध है। कहा भी है कि—"ग्राम, कुल, नगर वा देश इनमें से किसी में भी ममत्वभाव नहीं करना" ऐसा होने पर भी कितनेक उक्त ममत्वभाव करते हैं।

राढा अर्थात् शरीर-शोभा, उसकी इच्छा से अशुद्ध उपधि और भक्त आदि कोई-कोई लेते हैं। वहां अशुद्ध याने उद्गम–उत्पादनादि दोष से दुष्ट, उपधि अर्थात् वस्त्र, पात्र आदि और भक्त याने असन, पान, खादिम, स्वादिम आदि-आदिशब्द से उपाश्रय लेना चाहिये। ये सब अशुध्द लेना आगम में निषिद्ध ही है।

आगम इस प्रकार है कि:—पिंड, शय्या, वस्त्र, और चौथा पात्र ये अकल्पनीय नहीं लेना चाहिये। कल्पनीय हो वे ही लेना चाहिये। यहां शरीर-शोभा के लिये ऐसा कहा, सो पुष्टालंबन से दुर्भिक्ष और महामारी में पंचक परिहाणि से कुछ अशुद्ध ले तो भी उसे दोष नहीं लगता, ऐसा बतलाने के लिये कहा है।

क्योंकि पिंडनिर्युक्ति में कहा है कि–यह आहार-विधि जो सर्वभावदर्शी जिनेश्वर ने कही है, सो इस प्रकार पालना चाहिये कि–धर्म और आवश्यक व्यापार में बाधा न आवे। तथा कारण–वश दोष सेवन करना पड़े, उस भाव से अनासेवना ही जानना

चाहिये। क्योंकि-आज्ञा से वैसा करने पर उसका भाव शुद्ध ही रहता है और वही मोक्ष हेतु है।

निर्देय अर्थात् पत्रलेखन करके चन्द्र सूर्य तक दी हुई वसति अर्थात् स्थान, भी साधुओं को अकल्पनीय है। क्योंकि-उसके लेने से अनगारत्व की हानि होती है तथा टूटी फूटी सुधारने से जीव-वध होना भी संभव रहता है। कहा भी है कि-जीवों को मारे बिना घर की सारसम्हाल और व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है? और वैसा करने वाले मनुष्य असंयत के मार्ग में पड़ते हैं।

इसका ग्रहण भी कोई-कोई करते हैं। तथा तूली और मशवरी (गादी तकिये) प्रसिद्ध ही हैं। आदिशब्द से गादी, खरल, कांसे तांबे के पात्र आदि लेना चाहिये, ये भी यतियों को अकल्पनीय हैं।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं।

इच्चाई असमंजस-मणेगहा खुद्दचिट्ठियं लोए।
बहुएहिवि आयरियं न पमाणं सुद्धचरणाणं ॥८८॥

मूल का अर्थ—इत्यादिक अनेक प्रकार का क्षुद्र जनों से असमंजस चेष्टित इस लोक में बहुत से जनों ने आचरा हो तो भी वह शुद्ध चारित्रवन्त को प्रमाण नहीं।

टीका का अर्थ—इत्यादिक याने इस प्रकार का असमंजस याने शिष्ट-जनों को (सुधरे हुए जनों को) बोलने के लिये भी अनुचित अनेक प्रकार का क्षुद्र अर्थात् हीनसत्व-जनों का चेष्टित अर्थात् आचरित लोक में अर्थात् लिंगी-जनों में बहुत सों का आचरित हो, तो भी निष्कलंक चारित्रवान जनों का प्रमाण याने आलंबन हेतु नहीं।

यह अप्रमाण इसलिये है कि-वह सिद्धान्त में निषिद्ध है, संयम विरुद्ध है और निष्कारण चला हुआ है। इस प्रकार यथोचित विचार कर लेना चाहिये।

इस प्रकार आनुषंगिक कह कर अब प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

गीयत्थपारतंता इय दुविहं मग्गमणुसरंतस्स।
भावजइत्तं जुत्तं दुप्पसहंतं जओ चरणं ॥८९॥

मूल का अर्थ—गीतार्थ की परतन्त्रता में रहकर, इस भांति दो जाति के मार्ग का अनुसरण करने वाले को भावयतित्व युक्त है। क्योंकि दुःप्रसह पर्यंत चारित्र (कहा हुआ है)

टीका का अर्थ—गीतार्थ की परतन्त्रता से अर्थात् आगम के ज्ञाता पुरुष की आज्ञा में रहकर, इस प्रकार अर्थात् कही हुई नीति से दो जाति के मार्ग को अर्थात् आगम नीति और आगमानुसारी वृद्ध समाचार इन दो भेद वाले मार्ग को अनुसरण करने वाले याने उसके अनुसार चलने वाले साधु को भावयतित्व याने सुसाधुपन युक्त है। याने कहा जा सकता है। क्योंकि-दुःप्रसह नामक आचार्य पर्यंत चारित्र होगा, ऐसा सिद्धान्त में सुना जाता है।

तात्पर्य यह है कि-जो मार्गानुसारी क्रिया करने में यत्न करने वालों को चारित्रवान न मानें तो उनके बिना दूसरे तो कोई दीखते नहीं, अर्थात् चारित्र ही विच्छिन्न हुआ, और उससे तीर्थ भी विच्छिन्न हुआ, यह बात आई। अब यह बात तो भूत, वर्तमान व भविष्यत् के भाव को प्रत्यक्ष जानने वाले जिनेश्वर के

सिद्धान्त के साथ विरुद्ध पड़ती है, अतएव उसे चतुरजन स्वीकार नहीं करते। क्योंकि-व्यवहार-भाष्य में भी कहा है कि—

किसी-किसी का ऐसा आदेश (मत) है कि—ज्ञान, दर्शन से तीर्थ वर्तमान है, और चारित्र विच्छिन्न हुआ है, किन्तु ऐसा बोलने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित देना चाहिये।

जो ऐसा कहते हैं कि—धर्म नहीं, सामायिक नहीं, और व्रत नहीं उनको श्रमण-संघ ने अपने श्रमण-संघ से बाहिर निकाल देना चाहिये। इत्यादि आगम के प्रमाण से मार्गानुसारी क्रिया करने वाले भावयति हैं, यह बात निश्चित हुई। इस प्रकार सर्व मार्गानुसारी क्रिया हो, यह भाव-साधु का प्रथम लिंग कहा। अब धर्म में प्रवर श्रद्धारूप दूसरा लिंग कहते हैं—

सद्धा तिव्वभिलासो धम्मे पवरत्तणं इमं तीसे।
विहिसेव अतित्ती सुद्धदेसणा खलियपरिसुद्धी ॥९०॥

मूल का अर्थ—श्रद्धा याने तीव्राभिलाष, उसका धर्म में प्रवरत्व, वह यह है:—विधिसेवा अतृप्ति, शुद्धदेशना और स्खलित की परिशुद्धि।

टीका का अर्थ—धर्म में प्रवरश्रद्धा, यह दूसरा लिंग कहा हुआ है। वहां श्रद्धा याने तीव्र अभिलाषा अर्थात् कि—कर्म की क्षयोपशम और सम्यक्ज्ञान से हुई इच्छा, न कि-बालक को रत्न लेने की इच्छा होती है, उसके समान केवल कोई भी विषय का प्रतिभास रूप ज्ञान। इसलिये विशेषण कहा कि—तीव्र अभिलाषा धर्म में अर्थात् श्रुत और चारित्र रूप धर्म में उसका प्रवरत्व, वह यह याने जो आगे कहा जावेगा, उसे श्रद्धा का फलरूप जानो।

वह इस प्रकार कि, विधिसेवा, अतृप्ति, शुद्धदेशना और स्खलित परिशुद्धि ये श्रद्धा के प्रवरत्व के लिंग हैं। सूत्र में "विहिसेव अतित्ती" इस पद में प्राकृतपन से ह्रस्व किया हुआ है।

अब इनमें से प्रत्येक का वर्णन करने के हेतु पहिले विधि-सेवा को लेकर कहते हैं-

विहिसारं चिय सेवइ सद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं ।
दव्वाइदोसनिहओ वि पक्खवायं वहइ तंमि ॥९१॥

मूल का अर्थ—श्रद्धालु पुरुष शक्तिमान हो, तब तक ही विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है और जो द्रव्यादिक के दोष से वैसा न करे तो भी पक्षपात तो विधि ही की ओर रखता है।

टीका का अर्थ—विधिसार याने विधिप्रधान ही सेवे याने करे। कौन? तो कि-श्रद्धालु अर्थात् श्रद्धावान् हो वह। शक्ति-मान अर्थात् समर्थ हो वह। क्या करे? सो कहते हैं-अनुष्ठान अर्थात् प्रत्युपेक्षणा तथा गवेषणादिक क्रिया, अन्यथा श्रद्धालुत्व सिद्ध नहीं होता।

जो कदाचित् शक्तिमान न हो, तो कैसा करे सो कहते हैं कि-द्रव्य याने आहार आदि और आदिशब्द से क्षेत्र, काल, भाव लेना चाहिये। उनकी प्रतिकूलता से खूब पीड़ित होते भी विधि-युक्त अनुष्ठान ही में पक्षपात अर्थात् भाव रखे।

अनुष्ठान न करे तो पक्षपात कैसे संभव हो? सो कहते हैं:—

निरुओ भुज्ज रसन्नू-किंचि अवत्थं गओ असुहमन्नं ।
भुजंतंमि न रज्जइ सुहभोयणलालसो धणियं ॥९२॥

मूल का अर्थ—निरोगी, रसज्ञ कोई अधम अवस्था पाने पर अशुभ अन्न खावे तो, वह उसमें प्रसन्न नहीं रहता, परन्तु उसे खास करके शुभ भोजन की लालसा रहती है।

टीका का अर्थ—नीरुज अर्थात् ज्वरादि रोग रहित होकर, खंड खाद्य आदि भोज्य वस्तुओं के रस का ज्ञाता पुरुष कोई दुष्काल वा दरिद्र आदि अवस्था में अनिष्ट अन्न खाते भी उसमें गृद्धि नहीं पाता। वह इस प्रकार कि—

कदाचित् ऐसा संभव है कि—उत्तम भोजन खानेवाला मनुष्य भी दुष्काल वा दरिद्रता में फंस जाने पर भाखरी, भरडको, कंडु, कंटी, कडुवा रस, गुवार, अरणी के पत्ते, कुलिंजर आदि तथा वृक्ष की छाल और हरी झिल आदि क्षुधावश खावे तो भी वह उनमें गृद्धि नहीं पाता, किन्तु शुभ भोजनलालसा याने विशिष्ट आहार में लंपट हो कर ही रहता है, अर्थात् इस दशा का उल्लंघन करूं तो सुभिक्ष में पुनः उत्तम भोजन करूंगा। ऐसा मनोरथ अतिशयता से करता रहता है।

इस प्रकार दृष्टान्त कह कर अब दार्ष्टान्तिक की योजना कहते हैं—

इय सुद्धचरणरसिओ हेवंतो दव्वओ विरुद्धंपि।
सद्धागुणेण एसो न भावचरणं अइक्कमइ ॥९३॥

मूल का अर्थ—इस प्रकार शुद्धचारित्र-का रसिक पुरुष कदाचित् द्रव्य से किसी विरुद्ध वात का भी सेवन करता हो तो भी श्रद्धा के गुण से वह भाव-चारित्र का अतिक्रम नहीं करता।

टीका का अर्थ—इस प्रकार अर्थात् खराव भोजन खाने के दृष्टान्त से शुद्धचरणरसिक अर्थात् निष्कलंक संयम पालने में

उत्साह वाला पुरुष द्रव्य से अर्थात् बाह्यवृत्ति से विरुद्ध अर्थात् आगम निषिद्ध नित्यवासादिक तथा अपिशब्द से एकाकिपन का सेवन करता हुआ, भी श्रद्धा के गुण से अर्थात् संयम आराधना करने में लालसापन के परिणाम से भावचरण को अर्थात् पारमार्थिक चारित्र का अतिक्रम नहीं करता है। श्री संगमसूरि के समान।

क्योंकि कहा है कि—शोभन—भाववाले को प्रायः द्रव्यादिक विघ्नकारी नहीं होते, वैसे ही बाह्यक्रिया भी समझना चाहिये। लोक में भी ऐसी कहावत है कि—

स्वामी की आज्ञा से चलते हुए सुभट को बाण लगे तो भी वह स्त्री के मारे हुए कर्णोत्पल के समान उसे आनन्दित करता है। धीर पुरुषों के मनवांछित काम प्रारम्भ करते जैसे स्वदेश में वैसे परदेश में भी उनकी हिम्मत नहीं हारती। तथा दुर्भिक्षादिक काल भी दानवीर-जनों के आशयरूप रत्न का भेदन नहीं कर सकता, किन्तु अधिक विशुद्ध करता है।

इसी प्रकार महानुभाव भव्य चारित्रवन्त पुरुष को शुभ सामाचारी की ओर रहा हुआ भाव कदापि नहीं बदलता।

तथा जो रोगग्रसित अथवा वृद्धावस्था के कारण असमर्थ हो जाय और उससे जैसा कहा हुआ है, वैसा सब न कर सके तो भी वह जो अपने पराक्रम, उद्योग, धीरज और बल को न छिपाते और ढोंग न करते यत्नवान रहे तो उसे अवश्य यति मानना चाहिये।

श्री संगमसूरि की कथा इस प्रकार है—

यहां श्री संगमसूरि थे। वे समस्त भारी प्रमाद को दूर करने [illegible]ते थे। अज्ञान रूप काष्ठ को जलाने में दावानल समान शास्त्र-

धारी थे। समय-समय प्रति विशुद्ध होते परिणाम से पापसमूह को नष्ट करने वाले थे। और ग्राम, नगर, पर्वत आदि में नव-कल्पी विहार करते थे। वे अति तीव्र प्रवरश्रद्धा के योग से शुद्ध परिणाम वाले होते हुए भी जंघाबल से हीन होने से कुल्लागपुर में स्थिरवासी होकर रहे।

अब वहां लोगों को दुःख देने वाला दुष्काल पड़ा। तब उक्त भगवान ने प्रवचनमाता पालने में उद्यत उद्यतविहारी अनेक देश फिर कर सकल देशों की अनेक भाषाओं के ज्ञाता हुए सिंह नामक अनगार को गणाधिपतित्व सौंपा। बाद वे उन्हें कहने लगे कि-हे महाशय! तू स्वयं ही सब कर्तव्य जानता है, तथापि रूढ़ि के अनुसार मैं तुझे यह शिक्षा देता हूँ। तुझे सदैव उल्ल-सित प्रवरश्रद्धा से चारित्र का दुर्धर भार उठाना, तथा शिथिल शिष्यों को कोमल व मीठी वाणी से संभाल लेना चाहिये।

कहा है कि:—जहां सारणा नहीं हो वह जीभ से चाटता हो तो भी अच्छा नहीं और जहां सारणा है वह लकड़ी से मारता हो तो भी अच्छा। जैसे कोई शरणागत जन्तुओं के मस्तक काटता है, वैसे ही गच्छ में सम्हालने योग्य शिष्यों की सम्हाल न ले तो आचार्य भी मानों उनके मस्तक ही काटता है ऐसा जानना चाहिये। तथा तू द्रव्यादिक में अप्रतिबद्ध रह ममता छोड़ विविध-देशों में विचरना। क्योंकि-सूत्र में यतियों को अनियत विहार करना कहा है।

वह इस प्रकार कि-अनित्यवास, समुदानचर्या (गोचरी), अज्ञात उंछ, निर्मदपन, अल्पउपधि और कलह विवर्जन, यह ऋषियों की प्रशस्त विहार-चर्या है। इत्यादिक शिक्षा देकर उन्होंने उसे कहा कि—हे वत्स! तू अन्यत्र विहार कर अन्यथा यहां

अवम-दुष्काल में रहने से ये शिष्यगण खेद पावेंगे। और मैं जंघा-बल से रहित और दुर्बल शरीर होने से अन्यत्र चलने को अशक्त हूँ, अतएव अकेला यहीं रहूँगा।

यह कहकर उन्होंने मुनियों को कहा कि—हे वत्सों! तुम भी सदैव स्वच्छ आशयवान् रहकर कुलवधू की भाति इन गुरु को कभी मत छोड़ना। इन्हीं के प्रसाद से तुम सहज में संसार-समुद्र पार कर सकोगे, अतएव हे महाभागों! तुम अब इनके साथ विहार करो।

इस प्रकार आचार्य का विचार सुनकर वे मुनिगण उनके चरणों में मस्तक रखकर, भारी विरह से हुए शोक के कारण आंसू गिराने लगे। वे महान् शोक के कारण रुंधे हुए गले से गद्गद् वचन बोलते हुए, दुःख से संतप्त होकर भी गुरु का वचन टाल न सके। वे गुरु को नमन करके अपने अपराध खमाकर, जैसे तैसे अवम-दुष्काल आदि दोष से रहित देश में आ पहुँचे।

पीछे संगमसूरि भी शरीर में निरपेक्ष रह कर उक्त क्षेत्र के नव भाग कर पृथक-पृथक वसति, गोचरभूमि और विचारभूमि में यतनापूर्वक रहने लगे।

अब सिंह साधु ने किसी समय दत्त नामक साधु को शुद्धि के हेतु गुरु के पास भेजा। वह प्रथम की वसति ही में गुरु को रहते देखकर विचार करने लगा कि—कारणवश पृथक-पृथक क्षेत्र में यद्यपि विहार न किया जा सके तथापि नई-नई वसति बदलना इन्होंने क्यों छोड़ दिया है। इसलिये ये शिथिल-चारित्र जान पड़ते हैं। इससे ऐसे के साथ क्षणभर भी सहवास न रखना चाहिये। यह सोचकर समीप की वसति में वह अलग रहने लगा।

बाद भिक्षा के समय वह गुरु के साथ फिरता था, किन्तु दुर्भिक्ष के योग से अच्छा आहार न मिलने से उसका मुंह फीका होकर काला पड़ने लगा। उसे वैसा हुआ देख कर आचार्य किसी धनिक के घर गये। वहां उसका एक लड़का रेवती के दोष से सदैव रोता था। उसे गुरु ने चुटकी बजाकर कहा कि-हे बालक! मत रो। तब रेवती गुरु का तेज न सहकर तुरत भागी। जिससे वह बालक स्वस्थ हो गया। इससे उसका बाप लड्डू ले आया, वे करुणानिधि गुरु ने दत्त को दिलवाये।

अब गुरु ने कहा कि-हे दत्त! अब तू उपाश्रय को जा और मैं गोचरी पूरी करके आता हूँ। तब दत्त ने विचार किया कि-दीर्घकाल में इन्होंने मुझे केवल एक श्रद्धावान् श्रावक का घर बताया है और स्वयं अब दूसरों के यहां जाने वाले मालूम होते हैं। इस प्रकार सोचता हुआ वह उपाश्रय को आया। पश्चात् गुरु अंतप्रांत आहार लेकर बहुत देर से वहां आये। उन्होंने शास्त्र की विधि से जिस प्रकार सर्प बिल में घुसता है, उस प्रकार उसे खाया।

अब आवश्यक समय गुरु आलोचना लेकर बैठे तो वह भी बैठने लगा। तब गुरु ने कहा कि-यथोचित आलोयणा कर। तब वह बोला कि-आपके साथ ही फिरा हूँ अतः क्या बताऊँ? गुरु बोले कि-बालक के कारण मिला हुआ वह सूक्ष्म धात्रीपिंड है, उसकी आलोचना कर। तब दुरात्मा दत्त अनेक संकल्प और कल्पनाएँ करके नीम के समान कटुवाणी से गुरु के प्रति कहने लगा कि-तुम दूसरे के तो राई व सरसों बराबर दोष देखते हो किन्तु अपने बिल्वफल समान दोष देखते हुए भी नहीं देख सकते हो। यह कहकर वह अपने स्थान को गया। पश्चात् उसे शिक्षा देने के लिये नगर की अधिष्ठायक देवी ने उस दिन घनघोर

दिवस बनाया। उसमें ब्रह्मांड रूप मांड मानो फूटता हो वैसी गर्जना होने लगी। जिसे सुन भय से बोलने में अचकचाता हुआ वह गुरु को कहने लगा कि-हे भगवन्! मैं डरता हूँ। तब गुरु बोले कि-डरता हो तो मेरे पास आ। वह बोला कि-अंधकार में दिशा-विदिशा नहीं देख सकता हूँ।

तब गुरु ने अपने श्लेष्म से दीपशिखा के समान अपनी अंगुली को प्रकाशित करके, वह बताकर कहा कि- हे वत्स! इस तरफ आ। यह देख वह दुष्टात्मा बोला कि- क्या इनके पास दीपक भी है? तब देवी प्रत्यक्ष होकर उसे कहने लगी कि—

रे निःस्नेही दुष्टशिष्य! देह गेहादिक में प्रतिबंध छोड़ने वाले इन मुनिनाथ के विषय में भी तू निर्लज्ज होकर ऐसा चिंतवन करता है? तथा वसति बदलने के क्रम से पुनः यहां रहे हुए गुरु को अरे पापिष्ट! दुष्ट और अधर्मिष्ठ! क्या शिथिल चारित्रवान् मानता है? अरे! अन्तप्रांत खाने वाले को तू रसगृद्ध सोचता है? धिक् धिक्! अरे! लब्धिवन्त को ऐसा बोलता है कि-दीपक सहित हैं? इत्यादि दोष से दूसरे पद में रहते हुए शुद्ध श्रद्धा से भाव-चारित्र द्वारा पवित्र इन गुरु की क्यों अवगणना करता है?

इस प्रकार देवता के शिक्षा देने पर वह अत्यन्त पश्चाताप पाकर गुरू के चरणों में गिरकर बारंबार अपना अपराध खमाने लगा। उसने अतिचारों का आलोयण किया और गुरू ने दिया प्रायश्चित किया, जिससे दत्त मुनि विनय में उद्युक्त रहकर निर्मल चारित्र का आराधक हुआ। संगमसूरि भी चिरकाल विधिसेवा रूप लता की वृद्धि करने के लिये मेघ समान रहकर निरूपम धि से क्लेशों को दूर करके सुगति को पहुँचे।

इस प्रकार विशुद्ध विधि सेवन में तत्पर श्री संगमसूरि का चरित्र सुनकर द्रव्यादि-दोष से आहत होते हुए भी हे साधु जनों ! तुम पवित्र चारित्र में उत्तम श्रद्धा रखो।

इस प्रकार संगमसूरि की कथा पूर्ण हुई।

——×——

इस भांति विधिसेवा रूप श्रद्धा का पहिला लक्षण कहा। अब अतृप्तिरूप दूसरा लक्षण कहने की इच्छा से कहते हैं:—

तत्तिं न चेव विंदइ सद्धाजोगेण नाणचरणेसु।
वेयावच्चतवाइसु जहविरियं भावओ जयइ ॥९४॥

मूल का अर्थ—ज्ञान और चरण में श्रद्धा के योग से कदापि तृप्ति न पावे और वैयावृत्य तथा तप आदि में अपने वीर्य के अनुसार यत्न करे।

टीका का अर्थ—तृप्ति याने इतने से मैं कृतकृत्य हूँ, ऐसा संतोष श्रद्धा के कारण ज्ञान और चारित्र में कभी न पावे। वहां जितने से संयमानुष्ठान चले उतना मैंने पढ़ लिया है, अतः बस है। यह सोच कर ज्ञान में प्रमादी न होवे, किन्तु नई-नई श्रुत-संपदा उपार्जन करने में विशेष उत्साही रहे। कहा भी है कि:—

ज्यों ज्यों अतिशय रस प्रसरने के साथ अपूर्व श्रुत पढ़े त्यों त्यों मुनि नये-नये संवेग और श्रद्धा से प्रसन्न हुआ करे। तथा जिसका अर्थ मोहक्षय होने के बाद जिनेश्वर भगवान् ने कहा है और जो सूत्र से गौतमादिक महा बुद्धिवन्तों ने गूंथा है। उस संवेगादिक गुणों की वृद्धि उपजाने वाले और तीर्थंकर ना—

बांधने के कारणभूत नये-नये ज्ञान का संपादन विधिपूर्वक सदैव करते रहना चाहिये। तथा चारित्र के विषय में विशुद्ध विशुद्ध-तर संयम स्थान पाने के लिये सद्भावनापूर्वक संपूर्ण अनुष्ठान उप-योग सहित ही करे। कारण कि–अप्रमाद से किये हुए साधु के सकल व्यापार उत्तरोत्तर संयम–कंडक पर चढ़ा कर केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं।

आगम में भी कहा है कि–जिन-शासन में दुःखक्षय करने में आनेवाले प्रत्येक योग में प्रवृत अनेकों केवली हुए हैं। व वैया-वृत्य व तप तो प्रसिद्ध ही हैं, तथा आदि शब्द से प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन आदि लेना चाहिये। उन सब में यथा वीर्य अर्थात् साम-र्थ्यानुसार भाव से याने सद्भाव पूर्वक प्रयत्न करे, अचल मुनि-श्वर के समान।

अचलमुनि का चरित्र इस प्रकार है:—

भय रहित निर्भयपुर नगर में पवित्र जनों को अति हर्ष देने वाला रामचन्द्र नामक राजा था। जो कि-सलखन (लक्ष्मण सहित) रामचन्द्र के समान सलक्षण (लक्षणयुक्त) था। उसका अत्यन्त गौरवशाली अचल नामक सामंत था। वह न्याय, सत्य, शौच, शौंडीर्य आदि गुण-रत्नों का रत्नाकर था।

अब एक समय वह बहुत से परिवार सहित सभा में बैठा था। इतने में अति दुःखसूचक वाणि से नगरजन उसे कहने लगे कि–हे देव! चोर नहीं दीखता, सेंध लगी नहीं दीखती, और पद-चिह्न भी नहीं दीखते, तथापि कोई अदृष्ट रूप से इस नगर को लूट रहा है। यह सुन क्रुद्ध हो राजा ने कहा कि–अहो सुभटों! क्या तुम में से कोई उस चोर को पकड़ने में समर्थ है?

सुभट कुछ भी न बोले। इतने में अचल बोला कि-हे देव! मुझे आज्ञा दीजिए। इस रंक को पकड़ना कौन (बड़ी) बात है? तब राजा ने अपने हाथ से उसे पान देकर कहा कि-हे भद्र! वैसा कर, कि-जिससे यह चोर शीघ्र पकड़ा जावे। तब अचल ने प्रतिज्ञा करी कि-जो एक पक्ष के अन्दर चोर न पकड़ू तो अग्नि में प्रवेश करूंगा। यह कह वह राजभवन से निकला।

वह शहर में शृंगाटक, त्रिक चौक आदि स्थानों में भटका, किन्तु कोई चोर न मिला, तब वह नगर से बाहिर निकला। वह हाथ में तलवार ले, कमरकस दृढ़ प्रतिज्ञा लेकर रात्रि के प्रथम प्रहर में कुण्ड नामक स्मशान में आया। वहां किसी स्थान में अति कटु और कर्कश स्वर में उल्लुओं के कुटुम्ब रो रहे थे। किसी स्थान में रीछों के झुण्ड चिल्ला रहे थे। किसी स्थान में काले वैताल किलकिलाट कर रहे थे और किसी स्थान में भूतनियां उच्च स्वर से अट्टहास करती हुई फिर रही थीं।

उसमें अचल, अचल (पर्वत) के समान क्षोभ रहित होकर ज्योंही कुछ आगे चला कि-उसने एक पिशाच को अपने साधक को पकड़ता देखा। तब वह उसे कहने लगा कि-हे महायश! इस साधक को तू क्यों मारता है? तब वह बोला कि इसने मुझे सात दिन तक प्रसाद खिलाया। किन्तु इस समय मैं ने अत्यन्त क्षुधातुर होकर इससे महामांस मांगा वह यह क्षुद्र नहीं दे सकता है, जिससे मैं शीघ्र ही इसे मारूंगा।

तब परोपकार परायण अचल बोला कि-इसे छोड़ दे मैं तुझे महामांस देता हूँ। यह बात पिशाच ने भी स्वीकार कर ली। तब वह छुरी से अपना मांस काट कर उसे देने लगा। वह पिशाच भी 'मैंने किसी समय ऐसा तो खाया ही नहीं' यह बोलता हुआ खाने लगा।

अब ज्यों-ज्यों अचल उसे मांस के टुकड़े काट कर देने लगा त्यों-त्यों कोई दिव्य औषध पी हो वैसे उसकी भूख बढ़ने लगी। तब अचल अपने कलेवर का तमाम मांस रहित हुआ देख जीवन से निरपेक्ष हो अपना सिर काट कर भी देने को तैयार हुआ। तब पिशाच ने उसके सत्त्व से संतुष्ट होकर अपने दाहिने हाथ से पकड़ कर कहा कि-ऐसा साहस मत, और जो चाहिये सो मांग।

अचल बोला कि-जो तूं मुझ पर प्रसन्न हुआ हो तो साधक का इष्ट कर। तब देव बोला कि-वह तो मैंने किया ही मान, किन्तु दूसरा भी कुछ मांग। अचल बोला कि- हे देव तुझे क्या मेरे काम की खबर नहीं कि-जो कहना पड़े? तब देव अवधि के बल से उक्त काम जानकर बोला कि, हे अचल! तूं अपने घर जा और विषाद त्याग कर धीरज रख, प्रातःकाल चोर की सब पोल प्रकट हो जावेगी। प्रातःकाल अचल सोकर उठा तब पिशाच ने कहा कि-हे भद्र! अब चोर की बात सुन। उसने उत्तर दिया बहुत अच्छा प्रकट करो।

पिशाच बोला कि-इस नगर के बाहिर पूर्व दिशा के आश्रम में पर्वतक नामक एक योगी रहता है। वह सिद्ध है और उसका कपिलाक्ष नामक एक शिष्य है। उसके द्वारा वह रात्रि को नगर में से उत्तम-उत्तम वस्तुएँ हरण कराता है और इच्छानुसार क्रीड़ा करता है। पश्चात् दिन में योगी का रूप धरकर धर्म-कथा करता है। उसके आश्रम के तलघर में चोरी का तमाम द्रव्य रखा है। इसमें संशय मत कर। यह कह कर देवता अंतर्ध्यान हो गया।

अब प्रातः कृत्य करके अचल कुछ मनुष्य साथ लेकर देवता के कहे हुए आश्रम में आया तो वहां उसने कपट-योगी को देखा।

वहां थोड़ी देर रह कर अचल राजा के पास आया। राजा के पूछने पर चोर का उपरोक्त वृत्तान्त कहा।

राजा ने पूछा कि–इसका प्रमाण क्या है? उसने कहा कि–उसके आश्रम में तलघर में सब चोरा हुआ माल भरा है। तब राजा सिर दुःखने का बहाना करके सब नौकर चाकरों को विदा कर सो गया, तो उन लोगों ने अनेक उपचार करना शुरू किये। तथापि कुछ भी लाभ न हुआ तब मंत्रवादी आदि बुलाये गये। वे भी कुछ प्रतिकार न कर सकने से खिन्न होकर अपने-अपने स्थान को चले गये। तब बनावटी विषाद करके राजा ने उस योगी को बुलाया तो वह उपस्थित हुआ। तब उसे आदर-पूर्वक आसन दिया गया। उस पर बैठकर वह बातचीत करने लगा।

इधर राजा ने मनुष्य भेजकर तुरन्त उसका आश्रम खुदवा डाला तो सम्पूर्ण चोरा हुआ माल मिल गया। उसे वे राजभवन में ले आये। पश्चात् महाजनों को बुलवाकर वह माल बताया गया और पहिचान कर जो जिसका था वह उसे पहुँचाया गया।

अब वह योगी धमकाया गया कि–अरे अधम! अनार्य! पाखंडी! यह क्या बात है? तब वह डर कर चुप हो रहा। अब उस सिद्ध को मारने का हुक्म होते ही दुर्जन के समान उसका शिष्य शीघ्र ही भाग गया और उसे खूब विडंबित करके राजा ने मरवा डाला। इस प्रकार उसका मरण देखकर अचल वैराग्य प्राप्त कर सोचने लगा कि–हा हा! धन से विमोहित होकर, देखो! प्राणी किस प्रकार मृत्यु पाते हैं।

धन के लोभ से जीव जीवों को मारता है, सदैव झूठ बोलता है और पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि को भी ठगता है। इस

लोक के तुच्छ प्रयोजन के हेतु इस प्रकार जीव लाखों अकृत्य करना चाहता है, किन्तु उससे होने वाले दुःख को नहीं देख सकता। ये जीव अत्यन्त गाढ़ लोभ रूप मुद्गल के प्रहार से खूब विघुरित होकर, देखो! किस प्रकार दुर्गति के गड्डे में गिरते हैं?

इसलिये सारे लोभ के संक्षोभरूप तीक्ष्ण बाणावली को रोकने में समर्थ कवच समान दीक्षा को मैं दृढ़ हिम्मत रखकर लूंगा। इस प्रकार अचल, अचल संवेग से चित्त में सोचने लगा, इतने में गुणसुन्दर नामक आचार्य का आगमन हुआ।

अब अचल वहां गुरु का आगमन हुआ सुनकर उनके पास आया और उनके पदपद्म को नमन करके उचित स्थान में बैठा। तब आचार्य ने कानों को सुखदायी वचनों से संसार से निर्वेद कराने वाली, लोभ व मोह को दूर करने वाली, विषयानुराग रूप वृक्ष को उखाड़ने में हाथिनी समान, संवेग उत्पन्न करने वाली, और संसार-स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं को बताने वाली देशना दी। जिसे सुनकर अचल ने प्रतिबोध पाकर ज्यों त्यों राजा की आज्ञा ले उक्त गुरु से संवेग धारण कर दीक्षा ग्रहण की।

वह दो प्रकार की शिक्षा अंगीकृत करके गुरु के साथ पृथ्वी पर विचरने लगा, और भाव-शत्रु को मारने वाले तथा पुनः जन्म न पाने वाले अर्हत् का यथारीति आराधना करने लगा। प्रवचन की वात्सल्यता में तत्पर हो, वह सुखसमृद्ध सिद्धों का सदैव ध्यान करने लगा तथा श्रद्धा और विनयपूर्वक शिवफल के तरु समान गुरुओं की सेवा करने लगा। तथा निरन्तर ज्ञान के उपयोग में रहकर श्रुतपर्याय से महान स्थविरों, बहुश्रुतों तथा तपस्वियों की यथोचित आराधना करने लगा।

शीलव्रत तथा आवश्यक में अतिचार को दूर करने लगा, तथा श्रुत की भक्ति में परायण होकर अपूर्व ज्ञान सीखने लगा।

तथा तप से निकाचित कर्मों का भी क्षय होता जानकर महान् तप करने लगा, तथा क्षणलव ध्यान में उपयुक्त रहकर मुनियों को भक्त पानादिक वैयावृत्य करने लगा। कारण कि-पतित होने से अथवा मरने से चारित्र नष्ट होता है और स्मरण न करने से श्रुत नष्ट होता है, किन्तु वैयावृत्य जनित शुभोदयी कर्मनाश होता ही नहीं। ऐसा चिंतवन करके वह भारी उमंग से वैयावृत्य करने लगा, तथा प्रवचन की प्रभावना करने में तत्पर रह कर संघ को समाधि करने लगा।

इस प्रकार अनुत्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अतृप्त रहने वाले, उग्र तप करने वाले सुप्रशस्त लेश्यारूढ़ हो शुद्ध होने वाले और इस भांति से तीर्थंकर नाम-कर्म बांधने वाले, उक्त अचल मुनि को सर्वावधि आदि अनेक लब्धियां उत्पन्न हुई।

इतने में निर्भयपुर में रामचन्द्र राजा के हाथियों में एक ऐसा रोग फैला कि-चतुर वैद्यों के अनेक भेषज औषध के प्रयोग बताने पर भी और मंत्र-तन्त्र वादियों की कही हुई क्रियाएँ कराने पर भी उस रोग से हाथी मरने लगे। तब राजा चिन्तातुर होने लगा।

अब उस समय गुरु की अनुज्ञा से अचल मुनि वहां आये। तब राजा उनके पास आ, उनको प्रणाम करके उचित स्थान पर बैठा। मुनि ने भी राजा को योग्य सम्यक्त्व रूप मजबूत मूल-वाला, पांच अणुव्रत रूप स्कंध वाला, तीन गुणव्रतरूप शाखा वाला, शिक्षाव्रत रूप प्रतिशाखा वाला, निर्मल अनेक नियमरूप कुसुम वाला और सुर-नर की समृद्धि रूप फलवाला, गृहिधर्मरूप कल्पतरु कह सुनाया।

जिसे सुन राजा बोला कि-हे प्रभु! यह धर्म करना चाहता हूँ, किन्तु असमय मेरे हाथियों को मरते देख कर हे मुनीश्वर!

मुझे घर में या बाहिर, वसति में या जंगल में, दिवस में या रात्रि में लेश मात्र भी सुख नहीं है। अतः कोई ऐसा उपाय कहिये कि जिससे मैं स्वस्थ चित्त हो यह धर्म कर सकूं ? इस प्रकार राजा के दूसरी बार कहने पर भी वे मुनिवर सावद्य काम का वर्जन करने वाले होने से श्रेष्ठ-ज्ञानी होते भी कुछ न बोले। इतने में मुनि के पास बैठे हुए विद्याधर ने राजा को इस प्रकार कहा—

बहु लब्धि की समृद्धि वाले इन श्रमण सिंह के पग की रेणु छिड़क कर हाथियों को निरोग करो। यह सुन राजा ने प्रसन्न हो, मुनि के पग से स्पर्श हुई धूल इकट्ठी करके उन सब हाथियों पर तीन बार लगवाई, तब जैसे अमृत से विष उतरता है अथवा सूर्य की किरणों से जैसे अन्धकार नष्ट होता है, उसी भांति हाथियों में से उक्त रोग भाग गया।

यह आश्चर्य देख अत्यन्त हर्षित हो राजा कहने लगा कि-भगवन् ! हाथियों को यह व्याधि किस कारण से हुई होगी ? मुनि ने कहा-हे नरवर ! उस समय तुमने जो योगी मारा था, वह मर कर अकाम-निर्जरावश राक्षस हुआ है। उसने पूर्व का वैर स्मरण करके तेरे शरीर पर हमला करने में असमर्थ हो, यह भी एक भांति का दुःख होगा, ऐसा मान कर हाथियों में रोग पैदा किया है। किन्तु मेरे पग की रेणु के स्पर्श से उक्त व्याधियां दब गई हैं। वह राक्षस भाग गया है और हाथियों का समूह स्वस्थ हो गया है। मुनि का ऐसा माहात्म्य देखकर, राजा हर्षित होकर, गृहिधर्म स्वीकार कर प्रवचन का प्रभावक श्रावक हुआ।

अचल-मुनि भी चरणादिक में अतृप्त रह कर, अनशन करके सौधर्म-देवलोक में देवता हुआ। वहां से च्यव कर महाविदेहान्तर्गत कच्छ-विजय में श्री जयपुरी के पुरन्दरयश राजा की सुदर्शना रानी की कुक्षि में चौदह महा स्वप्न पूर्वक गर्भ में उत्पन्न

होकर उचित समय उत्पन्न हुए और उसे सुर असुरों ने मिलकर मेरू के शिखर पर अभिषिक्त किया। उसका नाम जयमित्र रखा गया। वह उचित समय पर दीक्षा लेने की इच्छा करने लगा तो लोकांतिक-देवों ने उसका अधिकाधिक उत्साह बढ़ाया।

पश्चात् वह बारह मास पर्यन्त अविच्छिन्नता से महादान देकर दीक्षा लेने को उद्यत हुआ। तब चौसठ इन्द्रों ने उसकी महान् निष्क्रमण महिमा करी। उस समय वहां सुर असुरों के एकत्र होकर त्रिलोक को एक जगत् करते हुए उसने सर्वोत्तम श्रमणत्व धारण किया। बाद शुक्ल-ध्यानरूप अग्नि से घातिकर्मरूप वृक्ष को समूल जलाकर केवलज्ञान पाकर अखिल त्रैलोक्य को देखने लगा।

पश्चात् वे भगवान् सिंहासन पर बैठे। उनके मस्तक पर तीन श्वेतछत्र धरे गये, और उनके शरीर से द्वादश गुण बड़ा कंकेलि नामक वृक्ष (अशोकवृक्ष) उन पर शोभने लगा। उनके दोनों ओर श्वेतचामर ढुलने लगे। सन्मुख पुष्प डाले गये और सूर्य-मंडल को जीतने वाले भामण्डल से उनके चारों ओर अन्धकार दूर होने लगा। तथा उन्होंने दुर्जयभावशत्रुओं को जीता। उसकी विजयध्वनि हो, उस भांति वहां देवों ने दुंदुभि बजाई और वे सर्व भाषाओं से मिलती हुई दिव्यवाणी से तीनोंलोक के संदेह हरने लगे। वे भगवान् सुगति का मार्ग प्रकट कर, पूर्ण भाव वाले भव्यजनों को प्रतिबोध करके चिरकाल तक विहार कर अनन्त सुख-संपदा को प्राप्त हुए।

तुम सम्यक्ज्ञान, दर्शन और तपश्चरण आदि में अतृप्त-मन-पूर्वक श्रद्धा करो।

इस प्रकार अचल मुनीश्वर का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार अतृप्तिरूप दूसरा लक्षण कहा, अब शुद्ध देशना-रूप तीसरा लक्षण कहने के लिये पहिले उसका अधिकारी बताते हैं।

सुगुरुसमीवे सम्मं सिद्धंतपयाण मुणियतत्तत्थो।
तयणुन्नाओ धन्नो मज्झत्थो देसणं कुणइ ॥९५॥

मूल का अर्थ—सुगुरु के पास भलीभांति सिद्धान्त के पदों का तत्त्वार्थ जानकर उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर धन्य-पुरुष मध्यस्थ रहकर देशना करे।

टीका का अर्थ—सुगुरु याने संविग्न गीतार्थ आचार्य से सम्यक् अर्थात् पूर्वापर पर्यालोचना पूर्वक सिद्धान्त के पदों का पदार्थ, वाक्यार्थ महा वाक्यार्थ तथा ऐदंपर्यार्थ की रीति से पर-मार्थ जानकर (देशना करे)

कहा भी है कि:—पद, वाक्य, महावाक्य और ऐदंपर्य इस भांति यहां चार वस्तुएं हैं। वे श्रुत का भाव जानने के प्रकार कहे हैं। ये चारों संपूर्ण होते भाव समझा जाता है। इसके सिवाय कभी-कभी विपर्यास भी हो जाता है और विपर्यास तो अनिष्ट फल देता है। ऐसा होते भी वह गुरु की अनुज्ञा लेकर देशना करे, न कि वाचालपन तथा अस्थिरता से स्वतन्त्र होकर। इस प्रकार धन्य अर्थात् धर्म धन के योग्य और मध्यस्थ याने स्वपक्ष और परपक्ष में रागद्वेष रहित हो, सद्भूतवादी होकर धर्म-देशना करे।

अवगयपत्तसरूवो-तयणुग्गहहेउ भाववुड्ढिकरं ।
सुत्तभणियं परूवइ-वज्जंतो दूरमुम्मग्गं ॥९६॥

मूल का अर्थ—पात्र का स्वरूप जानकर उसके अनुग्रह के कारणरूप भाव को बढ़ाने वाला, सूत्र में जो कहा हो, उसे प्ररूपित करे और उन्मार्ग को वर्जित करे।

टीका का अर्थ—अवगत किया हो याने ठीक-ठीक जान लिया हो, पात्र का याने सुनाने के योग्य प्राणी का स्वरूप याने आशय जिसने, सो अवगत पात्र स्वरूप कहलाता है। वह इस प्रकार कि-बाल, मध्यमबुद्धि और बुध के भेद से सुनाने के योग्य पात्र तीन प्रकार के हैं।

बाल लिंग देखता है। मध्यमबुद्धि आचार का विचार करता है और बुध सर्व यत्नों से आगम के तत्त्व की परीक्षा करता है। यथारीति लोच करना, नंगे पैर रखना, भूमि पर सोना, रात्रि को केवल दो प्रहर सोना, शीतोष्ण सहन करना। छठ, अठम आदि अनेक प्रकार का बाह्य तप, महा कष्ट, अल्प उपकरण धारण करना तथा उनकी शुद्धता। महान् पिंडविशुद्धि, अनेक प्रकार के द्रव्यादिक के नियम, विकृति त्याग, एक सिकथ आदि से नियमित पारणा, अनियत विहार, निरन्तर कायोत्सर्ग आदि करना; इत्यादि बाह्यप्रवृत्ति बाल को विस्तार से कहना।

मध्यमबुद्धि को इर्यासमिति आदि त्रिकोटि परिशुद्ध और आदि अन्त तथा मध्य में हितकारक साधु का आचार कह बताना। (वहां कहते हैं) परम कल्याण के इच्छुक साधुओं प्रवचन की माता के समान आठ माताएं नियम से निरन्तर स्मरण करना। इन प्रवचन-माताओं सहित साधु को नियम से संसार

का भय नहीं रहता तथा विधि से आगम ग्रहण करना फलदायक है। बहुमानपूर्वक निर्मल आशय रख कर गुरु के आधीन रहना यही परम गुरु पाने का बीज है, और इसीसे मोक्ष होता है।

इत्यादिक साधु का आचार मध्यमबुद्धि को नित्य कह सुनाना और भावप्रधान आगम तत्त्व तो केवल बुध ही को समझाना चाहिये। वचन की आराधना से धर्म होता है और उसकी बाधा से अधर्म होता है यह धर्म का गुह्य (मर्म) है और यही इसका सर्वस्व है इत्यादि बातें बुध ही को कहना चाहिये।

अथवा पारिणामिक, अपारिणामिक और अतिपारिणामिक इन भेदों से पात्र तीन प्रकार के हैं, इत्यादि पात्र का स्वरूप समझकर श्रद्धावन्त पुरुष पात्र के अनुग्रह का हेतु अर्थात् उपकारक जो भाव अर्थात् शुभ परिणाम उसकी वृद्धि का करने वाला, वह भी सूत्रभणित याने आगमोक्त हो उसकी प्ररूपणा करे और उन्मार्ग याने मोक्ष से प्रतिकूल मार्ग को दूर ही से वर्जित करे।

सारांश यह कि—सम्यक् रीति से पात्र का स्वरूप समझ कर उसके भाव को बढ़ाने वाली, अनुवृत्यादिक दोष से रहित और सिद्धान्त के मार्ग के अनुसार देशना करे। जैसे कि-श्रेणिक के प्रति निर्ग्रन्थ साधु ने की थी।

निर्ग्रंथ मुनि की कथा इस प्रकार है—

मगध देश के मुकुट समान राजगृह नगर का श्रेणिक नामक राजा था। वह दुःस्थित-जन को परिपालित करने में तत्पर रहता था। वह एक समय साथ में चलते हुए श्रृंगार शोभित अंतःपुर से तथा दौड़धूम से नमते हुए सामन्त और मन्त्रियों के समूह सहित—घोड़े, हाथी, रथ और पदाति के सैन्य से संपूर्ण दिशाचक्र

को दबाता हुआ तथा हाथी पर चढ़कर श्वेत चामरों से विंजायमान होता हुआ, मस्तक पर छत्र धरवा कर चलने लगा। और उसके आगे चलते हुए भाट–चारण उसकी अत्यन्त सरस कीर्ति गाने लगे। इस प्रकार विहार यात्रा करके वह मंडितकुक्षि नामक चैत्य में (वन में) आ पहुँचा।

वहां रतिरहित कामदेव के समान रूपवान एक तरुण मुनि को झाड़ के नीचे बैठे हुए देखकर इस प्रकार विचार करने लगा।

इस आर्यपुरुष का रंग देखो, रूप देखो, मुक्ति (त्याग) देखो, उत्तम क्षांति (क्षमा) देखो, तथा भोगों में असंगिता देखो। यह कह–वह उनके चरणों में प्रणाम करके हाथों को जोड़कर उचित दूरी पर खड़ा रहकर कहने लगा कि–हे आर्य! आपने यौवनावस्था में यह श्रमणत्व क्यों उठाया है?

तब उक्त महर्षि उसके अनुग्रह के लिये हेतुयुक्त, शुद्धभाव को बढ़ाने वाली और पात्रानुरूप वाणी बोले कि–हे मगधेश्वर! मैं अनाथ हूँ अर्थात् हे नरेन्द्र! मेरा नाथ कोई नहीं। मुझे यहां मुझ पर अनुकम्पा करने वाले व सुहृत् सम्बन्धी नहीं जान पड़ते। इसी से मैंने लाखों दुःखों को क्षय करने वाली यह दीक्षा ग्रहण की है। (यह सुनकर) राजा हास्य से दांतों की कान्ति बताता हुआ बोला—

हे मुनीश्वर! आप आपके लक्षण, व्यंजन और गुणों परसे तो अत्यन्त वैभवशाली होंगे, ऐसा दीखता है। तो फिर आपका नाथ वा अनुकम्पक व सुहृत् क्यों न होगा? और कदाचित् ऐसा ही हो तो, लीजिए बहुत से स्वजन परिवार वाला मैं ही आपका नाथ होता हूं। आप विषय-सुख भोगो, पुनः मनुष्य–भव मिलना दुर्लभ है।

तब मुनि राजा के मन की अनुवृत्ति न कर सिद्धांत के अनुसार यथारीति युक्तियुक्त और स्पष्टतः इस भांति बोले कि-हे श्रेणिक ! तू स्वयं ही अनाथ है तो स्वतः अनाथ होते तू दूसरे का नाथ किस प्रकार हो सकेगा ? मुनि के यह कहने से संभ्रान्त होकर राजा इस प्रकार बोला कि-मैं चतुरंगी सेना से परिवारित हूं। निरुपम भोग प्राप्त कर सकता हूँ और आज्ञा ऐश्वर्य वाले राज्य से युक्त हूं। तो भी आप मुझे अनाथ क्यों कहते हो ? इसलिये हे पूज्य ! झूठ मत बोलिये।

मुनि बोले कि-हे राजन् ! इस बात के अर्थ तथा उत्थान को तू नहीं जानता है, अतः एकाग्र मन से सुन—

कौशाम्बी नगरी में कुबेर की ऋद्धि को भी हंसने वाला और बहुत से स्वजन-वर्ग-युक्त तथा जगत् प्रसिद्ध यश वाला मेरा पिता था। अब हे मगधेश्वर ! मुझे वहां प्रथम वय में ही आंख की अति दुस्सह वेदना होने लगी। और उससे शरीर में दाह होने लगा। उस समय मेरे शरीर में मानों तीक्ष्ण भाले घुसते हों अथवा मैं वज्र से छेदित हुआ होऊं, वैसी अत्यन्त दुःसह्य आंख की पीड़ा से मैं बेहोश हो गया।

तब बहुत से मंत्र तन्त्र विद्या के जानने वाले जन मेरी चिकित्सा करने लगे किन्तु कोई भी दुःख से नहीं छुड़ा सका। हे राजन् ! यह मेरी अनाथता है। मेरे कारण मेरा पिता घर का सम्पूर्ण द्रव्य देने को तैयार हो गया किन्तु मुझे दुःख से नहीं छुड़ा सका। हे राजन् ! यह मेरी अनाथता है। आंसुओं के प्रवाह से मुख को धोती हुई मेरी माता अत्यन्त झुरने लगी किन्तु मुझे दुःख से नहीं छुड़ा सकी। हे राजन् ! यह मेरी अनाथता है।

क्या करना चाहिये इसी में मूढ़ बन कर मेरे छोटे बड़े भाई रोने लगे, किन्त मुझे दुःख से नहीं छुड़ा सके। हे राजन् यह मेरी

अनाथता है । मेरी बहिनें बायीं हथेली पर मुख रखकर गंभीर स्वर से रोने लगी, किन्तु मुझे दुःख से नहीं छुड़ा सकीं । हे राजन् ! यह मेरी अनाथता है । तथा मेरी स्त्री खानपान् व शृंगार आदि काम छोड़ कर अश्रु-पूर्ण नयनों से मेरे वक्षस्थल को भिगोती हुई, मेरे पास से क्षण भर भी दूर न होकर झुरने लगी, किन्तु मुझे दुःख से न छुड़ा सकी, हे राजन् ! यह मेरी अनाथता है ।

इस भांति किसी प्रकार से भी लेश मात्र आंख की पीड़ा कम न होने से मैंने सोचा कि—हाय हाय ! यहां कोई भी नाथ (रक्षक) नहीं और यह सोचकर मैंने प्रतिज्ञा की कि—जो इस वेदना से मुक्त होऊं तो सब का संग छोड़कर उत्तम अनगारी-पन ग्रहण करूं । इस प्रकार प्रतिज्ञा करके सोये हुए मुझे रात्रि को नींद आ गई और वेदना बन्द हो गई । जिससे मैं मानों नवीन शरीर वाला हो गया । बाद प्रातःकाल होने पर स्वजन-वर्ग की आज्ञा लेकर मैंने यह सर्वज्ञ-प्रणीत शुद्धदीक्षा ग्रहण की है ।

हे राजगृह के स्वामी ! तब से मैं अपना, परका और तदुभय का नाथ हुआ हूँ । हे राजन् ! यह भी एक भांति की अनाथता है । जिसे तू एक चित्त से सुन । जैसे कि कोई-कोई कातर मनुष्य निर्ग्रन्थ-धर्म पाकर भी सीदाते हैं । जो प्रव्रज्या लेकर प्रमादवश महाव्रतों को यथारीति नहीं पालते हैं और आत्मा विषय से व्याकुल होकर रसों में गृद्ध होते हैं, वे बंधन को मूल से नहीं काट सकते ।

जिसे ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपणिका, और पारिस्थापनिका, इन पांचों समितियों में उपयोग न हो, वह वीर-पुरुषों के मार्ग में नहीं चल सकता । वह दीर्घकाल तक मुंडन रुचि भी अस्थिर व्रत वाला और तप-नियम से भ्रष्ट रहकर अपने गहन क्लेश में उतार कर भी संसार का पार नहीं पा सकता ।

खाली मुट्ठी की भांति अथवा नियमशून्य बनावटी सिक्के के समान अथवा कांचमणि के समान जानकार मनुष्यों में बिना मूल्य का हो जाता है।

इस प्रकार यहां कुशीलता धारण कर जीविका के लिए रजोहरण को श्रेष्ठ बताते हुए असंयत-जन अपने को संयत कहकर चिरकाल विनिघात (निपात) पाते हैं। जैसे कालकूट विष पीने में आया हो, अथवा शस्त्र उलटा पकड़ने में आया हो तो वह मारता है। वैसे ही विषययुक्त धर्म भयंकर मंत्रादि से अनियंत्रित वेताल के समान मारता है। जो मुनि होकर लक्षण और स्वप्न के फल कहे, निमित्त और कुतूहल में लगा रहे कुहेटक विद्या—चमत्कारिक मंत्र—तंत्र का ज्ञानरूप विद्या आदि आश्रवद्वार से आजीविका करे उसको वह सब मृत्यु के समय कुछ भी रक्षा करने वाला नहीं। तमंतमेन—घोर अज्ञानसे अशील (शीलहीन) जो होता है वह सदा दुःखी रहकर विपर्यास को पाता है। वह असाधु हो मुनित्व की विराधना करके नरक और तिर्यंच योनि में भटकता है।

जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग दोषयुक्त ऐसा कुछ भी अनेषणीय नहीं छोड़े, पर अग्नि के समान सर्वभक्षी होकर रहता है वह यहां से पाप करके मर कर अत्यन्त खराब स्थान को पाता है। गला काटने वाला शत्रु उतना नुकसान नहीं कर सकता जितना वह अपने दुरात्मपन से करता है। वह दयाहीन जब मौत के मुख में पड़ेगा तभी जान सकेगा और पश्चाताप करेगा।

जो उत्तम अर्थ में विपर्यास पाता है, उसे साधुपन की रुचि निरर्थक है। उसे यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं, दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। इसी प्रकार यथाछंद और कुशील जिनेश्वर

के मार्ग की विराधना करके भोग-रस में गृद्ध रह कर कुरर पक्षी के समान निरर्थक शोक करके परिताप पाते हैं।

यह ज्ञान गुणयुक्त सुभाषित अनुशासन (शिक्षा) सुनकर बुद्धिमान पुरुष ने कुशीलवान का सारा मार्ग छोड़ कर महान निर्ग्रन्थों के मार्ग में चलना चाहिये। अतएव जो चारित्र और आचार गुण से युक्त रहकर अनुत्तर संयम पालता है वह आश्रवरहित सकल कर्म खपा कर अत्युत्तम शाश्वत-स्थान पाता है। इस प्रकार वह उग्रदान्त, महातपोधन, महा प्रतिज्ञवान्, महायश, महामुनि, श्रेणिक राजा को महा निर्ग्रन्थीय महाश्रुत बड़े विस्तार से सुनाने लगे।

इस भांति साधुक्त समयानुसारी विशुद्ध देशना सुनकर चंचल हुए रोमांचों से छाये हुए शरीर वाला राजा अंजली जोड़-कर ऐसा कहने लगा:-हे महर्षि! आपका मनुष्य-जन्म सुलब्ध है और आपने भलीभांति लाभ प्राप्त किये हैं। आप ही सनाथ और सबांधव हो, क्योंकि-आप जिनेश्वर के मार्ग में रत हो। आप ही सकल चराचर अनाथ जीवों के नाथ हो। मुझे आपने बड़ी उत्तम रीति से अनाथता समझाई है। इस अनुशिष्टि (शिक्षा)

इस प्रकार तीन जगत् को विस्मयकारक और मनोहर महामुनि का चरित्र सुनकर, हे सत्साधुओं ! तुम गुरु से तत्त्व जानकर शुद्धदेशना करने में प्रयत्न करो।

इस प्रकार निर्ग्रंथ साधु की कथा पूर्ण हुई।

पूर्व पक्ष—देशना याने धर्मोपदेश भला करने के हेतु समभावी साधु ने सब को समान रीति से देना चाहिये। उसमें फिर सामायिक (समभाव को बाधा करनेवाले और लगभग छेतरपिंडी के समान पात्रापात्र के विचार की क्या आवश्यकता है ?

उत्तरः—यह बात ऐसी नहीं, क्योंकि-भला करने की प्रवृति करते धूर्तता नहीं गिनी जाती। क्योंकि-जिसे संनिपात हुआ हो उसे दूध शक्कर देना बन्द करके क्वाथ ही दिया जाता है। इसीसे ऐसा करने में समभाव को बाधा भी नहीं। क्योंकि-सबों पर अनुग्रह बुद्धि समान ही रहती है अथवा सूत्रकार ही अन्य युक्ति कहता है।

सव्वंपि जओ दाणं दिन्नं पत्तंमि दायगाण हियं।
इहरा अणत्थजणगं-पहाणदाणं च सुयदाणं ॥९७॥

मूल का अर्थ—कोई भी दान पात्र को देने से ही उसके दाताओं को हितकारी होता है अन्यथा अनर्थकारी हो जाता है। तब श्रुतदान तो सब से उत्तम दान है।

टीका का अर्थ-क्योंकि सर्व दान पात्र को याने उचित ग्राहक को दिया हो, तभी दायक अर्थात् दाता को हित याने कल्याणकारी होता है। उचित पात्र का वर्णन श्रीमान् उमास्वाति वाचक ने इस प्रकार किया है—जो जीवादिक पदार्थों का जानकार होकर

समभाव से सर्व जीवों की रक्षा करने में उद्यत रहता है वह यति दान देने वाले को पात्र है। इतरथा अर्थात् दूसरी भांति से, आश्रव (पाप) के द्वार को खुले रखने वाले कुपात्र को दिया हुआ दान अनर्थजनक अर्थात् संसार बढ़ाने वाला होता है।

इससे क्या हुआ सो कहते हैं–तत्त्व देशनादिरूप श्रुतदान तो प्रधान दान ही है। उससे क्या हुआ सो कहते हैं:—

सुट्ठुयरं च न देयं-एयमपत्तंमि नायतत्तेहिं।
इय देसणा विसुद्धा इहरा मिच्छत्तगमणाई ॥९८॥

मूल का अर्थ–अतः इस श्रुतदान को तो खासकर तत्वज्ञानी पुरुषों ने अपात्र में नहीं देना चाहिये। इसी प्रकार विशुद्ध देशना गिनी जाती है, अन्यथा उससे मिथ्यात्व में गमन होता है।

टीका का अर्थ–सुष्टुतर अर्थात् अतिशय से यहां चकार अवधारणार्थ है। जिससे न देना अर्थात् कदापि न देना। यह अर्थात् श्रुतोपदेशादिक रूप दान, अपात्र में याने अपात्र को। क्योंकि–यहां सातवीं विभक्ति चौथी के अर्थ में है। ज्ञाततत्त्व अर्थात् आगम के वास्तविक भाव को जानने वाले पुरुषों ने। कहा भी है कि:–रक्त, द्विष्ट, मूढ़ और पूर्व व्युद्ग्राहित ये चार उपदेश को अयोग्य हैं किन्तु जो मध्यस्थ हों वे ही उपदेश को योग्य हैं।

अपात्र छोड़कर पात्रों में भी उचित रीति से देशना दी जाती है, वह शुद्ध कहलाती है। इतरथा अर्थात् अन्य प्रकार से देशना करने से सुननेवाले मिथ्यात्व में पड़ते हैं। आदिशब्द से द्वेष बढ़कर भात, पानी तथा शय्या मिलना बन्द हो जाता है तथा समय पर उपदेशकों की प्राण हानि भी हो जाती है। इत्यादि

दोष संभव हैं। इसी हेतु से भावानुवृत्ति के अनुसार देशना देने वाले गीतार्थ कहे जाते हैं।

कहा भी है कि:—गीतार्थ होता है वह सुननेवाले की इच्छानुसार चलकर उसको मार्ग में लाता है तथा प्रायः उचित जनों में बीजवपन करता है। भला, सूत्र में कहा हुआ हो, उसका प्ररूपण करे ऐसा कहा सो समझा परन्तु जो सूत्र में न कही हो, ऐसी लोगों में विवादयुक्त बात चलती हो, उसके विषय में पूछा जावे, तो वहां गीतार्थों का क्या कर्त्तव्य है ? इसका उत्तर कहते हैं।

जं च न सुत्ते विहियं न य पडिसिद्धं जणंमि चिररूढं।
समइविगप्पियदोसा तं पि न दूसंति गीयत्था ॥९९॥

मूल का अर्थ—जो सूत्र में विहित भी न हो और प्रतिषिद्ध भी न हो और लोक दीर्घकाल से चलता हो उसे भी अपनी मति कल्पित दोष से गीतार्थ-जन दूषित नहीं करते।

टीका का अर्थ—यहां च शब्द पुनरर्थ है जिससे, और जैसेकि-अनुष्ठान सिद्धांत में विहित अर्थात् चैत्यवंदन और आवश्यक आदि के समान कर्तव्य रूप से नहीं कहा होता और प्राणातिपातादिक के समान प्रतिषिद्ध भी नहीं होता। साथ ही लोक में चिररूढ होता है अर्थात् यह ज्ञात नहीं होता कि—यह कब से चला है, उसे भी संसार वृद्धि भीरु गीतार्थ दूषित नहीं करते, अर्थात् यह अयुक्त है ऐसा दूसरे को उपदेश नहीं करते। इसीसे वे भी भगवती में कही हुई ऐसी बात सोचते हैं।

हे मंडुक ! जो मनुष्य अनजाने, अनदेखे अनसुने व अनपरखे अर्थ-हेतु-प्रश्न वा उत्तर भर-सभा में कहे, बतावे, प्ररूपे,

जनावे, सिद्ध करे, स्वीकार करे वह अर्हत् भगवानों की तथा केवलियों की आशातना करता है। और उनके धर्म की भी आशातना करता है। तथा उनके चित्त में यह बात भी स्फुरित होती है।

संविग्गा गीयत्था विहिरसिया पुव्वसूरिणो आसी।
तददूसियमायरियं अणइसई को निवारेइ ? ॥१००॥

मूल का अर्थ—पूर्व सूरिगण संविग्न उत्तम गीतार्थ और विधि के रसिक थे। उनके दूषित न किये हुए आचरित को वर्तमान समय में अतिशय रहित कौनसा मनुष्य निवारण करता है ?

टीका का अर्थ—संविग्न अर्थात् शीघ्र मोक्ष चाहने वाले और अतिशय गीतार्थ क्योंकि उनके समय में बहुत आगम थे। तथा संविग्न होने ही से विधिरसिक याने विधि में जिनको रस पड़ता था, ऐसे अर्थात् विधि बहुमानी पूर्व सूरिगण अर्थात् चिरंतन आचार्य थे। उनका अदूषित अर्थात् अनिषद्ध आचरित अर्थात् सर्व धार्मिक लोक में चलता हुआ व्यवहार, उसे अनतिशयी अर्थात् विशिष्ट श्रुत वा अवधि आदि अतिशय रहित कौन मनुष्य पूर्व पूर्वतर उत्तम आचार्यों की आशातना से डरने वाला होकर निवारण कर सकता है ? कोई नहीं। तथा वे गीतार्थ यह भी विचारते हैं कि:—

अइसाहसमेयं जं उस्सुत्त–परूवणा कडुविवागा।
जाणंतेहिवि दिज्जइ निद्देसो सुत्तबज्झत्थे ॥१०१॥

मूल का अर्थ—उत्सूत्र प्ररूपणा कड़वे फल देने वाली है। ऐसा जानते हुए भी जो सूत्र बाह्य अर्थ में निश्चय दे देते हैं, वह अति साहस है।

टीका का अर्थ–जलती आग में प्रवेश करनेवाले मनुष्य के साहस से भी अधिक यह अति साहस है कि–सूत्र निरपेक्ष देशना कड़ुवे अर्थात् भयंकर फल देनेवाली है ऐसा जानने वाले होकर भी सूत्र-बाह्य अर्थात् जिनागम में न कहे हुए अर्थ में अर्थात् वस्तु विचार में निर्देश अर्थात् निश्चय दे देते हैं। अर्थात् क्या कहा सो कहते हैं:—

मरीचि एक दुर्भाषित से दुःख सागर में गिरकर क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम भमा। उत्सूत्र के आचरण करने से जीव चिकने कर्म बांधता है, संसार बढ़ाता है और मायामृषा करता है। उन्मार्ग की देशना देनेवाला, मार्ग का नाश करने वाला, गूढ़हृदयी, मायावी, शठ और सशल्य जीव तिर्यंच का आयुष्य बांधता है। जो उन्मार्ग की देशना से जिनेश्वर के चारित्र का नाश करते हैं, वैसे दर्शनभ्रष्ट लोगों को देखना भी अच्छा नहीं।

इत्यादि आगम के वचन सुनकर भी अपने आग्रह में ग्रस्त हो कर जो कुछ भी उलटा सीधा बोलते हैं, तथा करते हैं, सो महा साहस ही है, क्योंकि–यह तो अपार, और असार संसार रूप सागर के पेट में होने वाले अनेक दुःखों का भार एकदम अंगीकार करने के समान है। क्या इस प्रकार आगम का अर्थ जानकर भी कोई अन्यथावाद करता है? हां, वैसे भी हैं। कहते हैं कि:—

दीसंति य ढड्ढसिणो लोगे नियमइपउत्तजुत्तीहिं।
विहिपडिसेहपवत्ता चेइयकिच्चेसु रूढेसु ॥१०२॥

मूल का अर्थ–ऐसे भी अनेक ढड्ढर लोग दीखते हैं कि–जो अपनी मति से जोड़ी हुई युक्तियों से चैत्य सम्बन्धी कृत्यों में हां, ना करते रहते हैं।

टीका का अर्थ—अधिक वक्र जड़ वाले इस दुःषमा-काल में ढड्ढासण अर्थात् महा साहसिक अर्थात् भयानक भव-पिशाच से भी न डरनेवाले अनेक जन निजमतिकल्पित युक्तियों से अर्थात् अपनी बुद्धि से खड़ी की हुई युक्तियों से विधि प्रतिषेध करते दीखते हैं।

अर्थात् कि—कितनीक क्रियाएँ आगम में नहीं कहीं सो करते रहते हैं और अन्य कितनीक आगम में अनिषिद्ध होकर चिरन्तन जनों की आचरी हुई, उनको अविधि कहकर के "धार्मिक जनों ने ऐसी क्रियाएँ न करना चाहिये" ऐसा कहकर उनका निषेध करने में प्रवृत्त होते हैं। वे किसमें प्रवृत्त होते हैं? स्नात्र कराना आदि चैत्यकृत्यों में जो चैत्यकृत्य रूढ़, अर्थात् पूर्व पुरुषों की परम्परा से प्रसिद्ध है। 'पूर्व की रूढि सो अविधि, और वर्तमान प्रवृति सो विधि" ऐसा कहने वाले बड़े साहसिक पुरुष अनेक देखने में आते हैं।

तं पुण विसुद्धसद्धा सुयसंवायं विणा न संसंति।
अवहीरिऊण नवरं सुयाणुरूवं परूवंति ॥१०३॥

मूल का अर्थ—उस प्रवृत्ति की विशुद्ध श्रद्धावाले पुरुष श्रुत के प्रमाण विना प्रशंसा नहीं करते किन्तु उसकी अवधीरणा (उपेक्षा) करके श्रुत को मिलता हुआ प्ररूपण करते हैं।

टीका का अर्थ—उसको अर्थात् उसकी प्रवृत्ति को विशुद्ध याने आगम में बहुमान वाले श्रद्धालु-जन श्रुतसंवाद विना अर्थात् श्रुत में कही हुई सिद्ध न हो तो, अनुमत नहीं करते किंतु मध्यस्थ भाव से उसकी उपेक्षा करके श्रुतानुरूप अर्थात् जैसा सूत्र में वर्णित हो, वैसा जिज्ञासुओं को बताते हैं। इस प्रकार शुद्ध देशना

रूप श्रद्धा का तीसरा लक्षण विस्तारपूर्वक कह बताया। अब स्खलितपरिशुद्धि रूप चौथा लक्षण कहते हैं:—

अइयारमलकलंकं पमायमाईहि कहवि चरणस्स।
जणियंपि वियडणाए सोहंति मुणी विमलसद्धा ॥१०४॥

मूल का अर्थ—प्रमाद आदि से चारित्र में किसी प्रकार से अतिचार मलकलंक लगा हो, तो उसे भी विमल श्रद्धावान मुनि विकटना (आलोचना) से शुद्ध कर लेते हैं।

टीका का अर्थ—अतिचार अर्थात् मूलगुण तथा उत्तरगुण की मर्यादा का अतिक्रम, वहीं डिंडीरपिंड (अफीम का गोला) के समान उज्वल गुणगण को मलीन करने वाला होने से मल कहलाता है। तद्रूप चारित्रचन्द्र का कलंक उसे प्रमादादिक से अर्थात् प्रमाद, दर्प और कल्प से—प्रायः आकुट्टिका तो चारित्रवान् को संभव नहीं—किसी प्रकार से भी अर्थात् कंटकमय मार्ग में यत्न से जाने वाले को भी कांटा लगे तद्वत्-चारित्र में लगा हो।

आकुट्टिकादिक का स्वरूप यह है-

तीव्रता से जानबूझ कर करना सो आकुट्टिका है। दौड़ादौड़ से करना सो दर्प है। विकथा आदि प्रमाद है और कारण से करना कल्प है। ये दशविध प्रतिसेवा के उपलक्षण रूप से है।

दशविध प्रतिसेवा यह है:—

दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर (रुग्णावस्था), आपत्, शंकित, सहसाकार, भय, प्रद्वेष और विमर्श (इन दश कारणों से प्रतिसेवा होती है।) अपिशब्द संभावनार्थ होने से, संभवतः चारित्रीय को इस प्रकार अतिचार कलंक लगना संभव है, तथापि उसको विकटना अर्थात् आलोचना द्वारा विमल श्रद्धावाले अर्थात् निष्क-

लंक धर्म की अभिलाषा वाले यत्ति शुद्ध कर लेते हैं। शिवभद्र मुनि के समान।

शिवभद्र मुनि की कथा इस प्रकार है।

यहां कौशाम्बी नगरी में पूर्व दिशा के उद्यान में स्थित भवन में वास करने वाला परशुपाणी नामक यक्ष रहता था। उसके प्रतिहार (सेवक देव) भी उसके पड़ौस में रहते थे।

एक समय उक्त भवन में सूत्रार्थ का ज्ञाता सुदर्शन नामक साधु विशेष तप कर्म करने की प्रतीज्ञा लेकर कायोत्सर्ग से खड़ा रहा। उसका मन डिगाने के हेतु वह यक्ष उसे सर्प का रूप करके डसने लगा। हाथी का रूप करके पीड़ित करने लगा तथा अट्ट-हास्य करके डराने लगा। तथापि मुनि के मन को क्षोभ न हुआ। तब वह हर्षित हो मुनि को नमन करके विनन्ती करने लगा कि—

हे मुनिवर ! आपके समान सद्योगशाली को भी पाप करने को उद्यत मैंने जो उग्र उपसर्ग किया है, सो हे पूज्य ! क्षमा करिये, यह कहकर वह यक्ष उक्त साधु के चरण कमल में अपना मस्तक नमा कर उससे क्षमा मांग कर शिष्य के समान समीप रह कर उनकी सेवा करने लगा।

अब वहां शिवभद्र और श्रीयक नामक दो पुरोहित के पुत्र आ पहुँचे। उन्होंने उक्त अति दुष्कर तप से कृश अंगवाले मुनि को देखा। तब वे हंसते हुए बोले कि—हे मुनीन्द्र ! धर्म के हेतु अपनी आत्मा को पीड़ित करना यह तो अत्यन्त अयुक्त है। क्योंकि— धर्म से धन मिलता है, धन से काम मिलता है और काम से संसार होता है तब मूल धर्म करना, यही भारी अयोग्य है।

इस प्रकार उनको उपहास करते देखकर यक्ष को बहुत क्रोध आया। जिससे वह तीक्ष्ण कुल्हाड़ा लेकर उनको मारने के लिये

दौड़ा। तब भय से आंखों की किरकिरियां फिराते हुए और शरीर से कांपते हुए वे "तू हमारी रक्षा कर" ऐसा कहकर मुनि के पांवों में गिर पड़े। तब उन्हें साधु के शरण में पड़ा हुआ देखकर यक्ष शान्त हुआ, इतने में कायोत्सर्ग पालकर मुनि ने उनको इस प्रकार कहाः—

हे भद्रो! मुनिजन सदैव सर्व क्रियाएं मोक्ष ही के हेतु करते हैं और मोक्ष सकल राग द्वेष से रहित धर्म ही से मिलता है। सराग धर्म से स्वर्गादिक फल मिलता है तथापि परम्परा से वह भी अन्त में मोक्ष ही का हेतु होता है। तथा "धर्म से धन का लाभ होता है" ऐसा जो तुमने कहा, सो भी युक्त नहीं, क्योंकि-सकल पुरुषार्थ धर्म से ही होते हैं।

कहा है किः—धर्म धनार्थी को धन देता है, कामार्थी को काम पूर्ण करता है और परम्परा से मोक्ष देता है। तथा तुमने जो धन के भोगादिक को संसार के कारण कहे, वह भी क्लिष्ट परिणामी जीवों के आश्रय से है। अक्लिष्ट परिणामी को नहीं, कहा है किः—कोई ऐसी भी कला है कि-जिसके द्वारा परमार्थ को जान कर अपने मन में ऐसा ध्यान करते हैं कि जिससे सैकड़ों घड़ों से स्नान करने पर भी बिन्दु मात्र से भी नहीं भीगते। अपन सुनते भी हैं कि, भरत और सगर आदि पुरुष यहां चिरकाल तक उत्तम भोग भोगकर अक्लिष्टचित्त रह करके मुक्ति पद को प्राप्त हुए हैं।

यह सुन उन दोनों ने प्रतिबोध पाकर उक्त अपराध वारंवार खमा कर उक्त मुनि से दीक्षा ग्रहण की। वे यति के योग्य क्रियाएं जानकर गुरु से अनेक सूत्रार्थ सीख कर चिरकाल तक उग्र विहार करते रहकर क्षमा सहित तप करने लगे।

अब अशुभ-कर्म-वश श्रीयक चारित्र में शिथिल होने लगा। वह मन में जाति-मद रखकर गुरु के विनय को भी छोड़ने लगा। तब उसे शिवभद्र कहने लगा कि-हे भद्र! लाखों भवों में भी दुर्लभ, इस चरण करण में तू क्षण भर भी शिथिल मन क्यों करता है? तू नित्य गुरु विनय में तत्पर रह और लेशमात्र भी जाति-मद मत कर। क्योंकि-जाति मद आदि से जीव दुःखी होकर संसार रूप अटवी में भटकता है।

कहा है कि-जाति, कुल, रूप, बल, श्रुत, तप लाभ और ऐश्वर्य इन आठ मदों से मत्त होकर अशुभ-कर्म बांधता है व संसार में बहुत भटकता है। अतः हे भद्र! तेरे इस दोष को तूं गीतार्थ गुरु से सम्यक् रीति से आलोचना की विधि जानकर आलोच।

आलोचना की विधि इस प्रकार है -

प्रतिसेवा, प्रतिसेवक के दोष, गुण, गुरु के गुण, सम्यक् विशोधि के गुण और सम्यक् रीति से आलोचना न करनेवाले को शिक्षा ये द्वार जानना चाहिये।

प्रतिसेवा दश प्रकार से है:-दर्प, प्रमाद, अनाभोग, सहसाकार, आतुर, आपत्, शंकित, भय, प्रद्वेष और विमर्श। दौड़ादौड़ करना सो दर्प, कंदर्प सो प्रमाद, भूल जाना सो अनाभोग और अकस्मात् होता है सो सहसाकार कहलाता है। भूख, प्यास वा व्याधिग्रस्त होकर सेवे सो आतुर प्रतिसेवा कहलाती है और द्रव्यादिक के अलाभ से चार प्रकार की आपत् प्रतिसेवा है। शक भरा हुआ आधाकर्मादिक सेवन करे सो शंकित प्रतिसेवा-भय सो सिंह आदि का जानो, प्रद्वेष सो क्रोधादिक और शिष्यादिक की चिंता सो विमर्श जानो।

प्रथम द्वार पूर्ण हुआ, अब दूसरा कहते हैं।

आकंप कर आलोचे, अटकल से आलोचे, जो दीखा हो सो आलोचे, बादर आलोचे, सूक्ष्म आलोचे, गुप्त आलोचे, गड-बड़ करता आलोचे, बहुजन में आलोचे, अगीतार्थ के पास आलोचे, उनकी सेवा करता हुआ आलोचे ये दश दोष हैं।

इस प्रकार प्रतिसेवक के दोष हैं, उसमें आकंप करके याने भक्ति आदि से जरा धीमा होकर आलोचे। अटकल से याने बड़े अपराध को छोटा बता कर आलोचे। जो दीखा हो याने दूसरों के देखने में आया हो सो आलोचे। बादर आलोचे पर सूक्ष्म नहीं। विश्वास उपजाने के लिये सूक्ष्म आलोचे, पर स्थूल नहीं आलोचे। गुप्तरीति से याने अव्यक्त स्वर से आलोचे। शब्दाकुल याने उतावला बोलकर आलोचे। बहुत जनों के आगे पीछे वही प्रायश्चित आलोचे। अव्यक्त याने अगीतार्थ के समीप आलोचे। तत्सेवी अर्थात् उनकी सेवा करता हुआ आलोचे। इस प्रकार दश दोष का द्वार पूर्ण हुआ।

अब आलोचक के दशगुण ये हैं:-१ जाति, २ कुल, ३ विनय, ४ उपशम, ५ इन्द्रियजय, ६ ज्ञान, ७ दर्शन, इन सातों से युक्त हो, अननुतापि, अमायी और चरणयुक्त हो। इस प्रकार दश आलोचक कहे हैं।

जातिवन्त प्रायशः बुरा नहीं करे और करता है तो आलोचे, कुलवान गुरु का दिया हुआ प्रायश्चित यथारीति आलोचे। ज्ञानी कृत्याकृत्य जाने, दर्शनी शोधिनी श्रद्धा रखे, चरणी (चारित्रवान्) उसे स्वीकार करे, शेष पदों का अर्थ प्रकट है।

तीसरा द्वार कहा, अब गुरु के गुणों का चौथा द्वार कहते हैं।

१ आचारवान्, २ आधारवान् , ३ व्यवहारवान्, ४ उद्व्रीडक ५ प्रकुर्वी, ६ अपरिश्रावी, ७ निर्यापक और ८ अपायदर्शी गुरु होना चाहिये।

ज्ञानाचारादिक से जो युक्त हो सो आचारवान् है। शिष्य के कहे हुए अपराध को मन में धारण करके रखे सो आधारवान् है। व्यवहार पांच प्रकार का है:-आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ये पांच व्यवहार हैं। केवली, मनपर्यवी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी और नवपूर्वी ये आगम व्यवहारी कहलाते हैं। उससे कम आचार-प्रकल्पादिक शेपसर्व श्रुत जानो। देशांतर-वासी गूढ-पद से आलोचना ले सो आज्ञा है।

गीतार्थ से पहिले सुना हो, उसे स्मरण रखकर तदनुसार प्रायश्चित करने से धारणा कहलाती है और जिस गच्छ में जो प्रायश्चित परम्परा से रूढ़िगत हो सो जीत है। लज्जावान् को समझाकर कम लज्जावान् करे सो उद्व्रीडक कहलाता है, और घोर पाप की भी शुद्धि करा सके सो प्रकुर्वी है। गंभीर हो सो अपरिस्रावी है। दुर्बल को भी चला लेने वाला हो सो निर्यापक है और शल्यवालों को नरकादिक के दुःख बतानेवाला हो सो अपायदर्शी है। शल्य का उद्धार करने के हेतु क्षेत्र से सात सौ योजन पर्यन्त गीतार्थ गुरु की शोध करना और काल से बारह वर्ष पर्यन्त राह देखना।

जो अगीतार्थ होता है सो सर्वलोक का सार चार प्रकार का अंग बिगाड़ता है, और चतुरंग बिगड़ा, तो पुनः चतुरंग मिलना कुछ सुलभ नहीं। तथा जो व्रत ग्रहण से लेकर अखंडित चारित्र-वाले और गीतार्थ हों उन्हीं से सम्यक्त्वव्रत तथा प्रायश्चित लेना चाहिये। इसलिये ऐसे गुरु के पास लज्जा, गारव (मान)

तथा भय आदि त्याग कर भावशल्य निकालने चाहिये। कहा भी है कि-जैसे बालक सरल रहकर कार्य अकार्य कह देता है। वैसे ही माया मद छोड़ कर उसी भांति आलोचना करना चाहिये।

चौथा द्वार पूर्ण हुआ। अब सम्यक् विशोधि के गुण कहते हैं-

आलोचना लेने से पाप हलके होते हैं। आल्हाद होता है। स्वपर की पाप से निवृत्ति होती है। ऋजुता कायम रहती है। शोधि होती है। दुष्कर करण होता है। कोमल परिणाम होता है। निःशल्यता होती है। ये शोधि के गुण हैं। आलोचना लेने के परिणाम से गुरु के पास आने को रवाना होकर जो मार्ग के बीच में ही मर जाय, तो भी वह आराधक ही है। गुरु के पास आकर जो अपने दोष प्रकट करता है, वह जो मोक्ष को न जावे तो भी देवता तो अवश्य होता है। अब जो ऐसा जानकर भी अपने शल्य बराबर नहीं बतावे तो उसे गुरु ने निशीथ-भाष्य में कहे हुए दृष्टान्तों से प्रेरित करना चाहिये।

जैसे कि-कोई एक राजा के पास सर्व गुणसम्पन्न एक घोड़ा था। उसके प्रभाव से राजा को सर्व सम्पत्ति मिली थी। अब दूसरे राजा अपने-अपने यहां रह कर ऐसा शोधने लगे कि-ऐसा कोई मनुष्य है कि-जो उस घोड़े को हर लावे? तब गुप्तचरों ने कहा कि-वह तो सदा मनुष्यों के झुण्ड के बीच में रहता है। जिससे हरा नहीं जा सकता। इतने में एक मनुष्य ने कहा कि—

ऐसा होने पर भी मारा तो जा सकता है। तब राजा ने कहा कि-चाहे ऐसा ही हो। तब वह मनुष्य वहां आया तथापि उसे घोड़े के पास जाने का लाभ न मिल सका। तब उसने बाण के सिरे में क्षुद्रिका-कंटक पिरोकर उससे उक्त घोड़े को बींध कर

उसके शरीर में उक्त सूक्ष्म शल्य दाखिल किया। अब वह घोड़ा बराबर घास पानी खाते पीते भी कृश होता है। तब राजा ने उसे वैद्य को बताया तो उसने ऐसा कहा कि—

इसे धातुक्षोभ तो नहीं है, पर इसके शरीर में कोई गुप्त शल्य हो ऐसा जान पड़ता है। यह कहकर उसने शीघ्र ही उस घोड़े पर सूक्ष्म कीचड़ का लेप कर दिया। तब उसे जहां शल्य लगा था, उस स्थान में जरा गरम रहने से वहां का कादव जल्द सूखा। तब उसने वहां शल्य को ढूंढकर निकाल लिया जिससे घोड़ा निरोग हो गया।

अब एक दूसरा घोड़ा था उसका शल्य नहीं निकाला जा सकने से उसका खाना पीना रुक गया। वैसे ही शल्य सहित साधु भी कर्म जय करने को असमर्थ रहता है। इसलिये हे देवानुप्रिय! लाज, मान, भय आदि छोड़कर सम्यक्-रीति से तूं तेरा शल्य आलोच। सशल्य रहकर मत मर। कहा भी है कि:-शस्त्र, विष, छेड़ा हुआ वेताल, उलटा जमाया हुआ यंत्र अथवा पैर लग जाने से क्रुद्ध हुआ सर्प, ये उतनी हानि नहीं कर सकते कि-जितनी (भावशल्य हानि करता है)। क्योंकि-अनशन के समय अनुद्धारित भावशल्य दुर्लभ-बोधिपन और अनंत संसारीपन करता है। इस प्रकार सिरिया को समझाने पर भी वह आलोयण, प्रतिक्रमण बिना चारित्र की विराधना करके भवनपतियों में उत्पन्न हुआ।

अब शिवभद्र तो कांटा किस मार्ग से दाखिल किया इस बात पर से किसी भी प्रकार लगे हुए अतिचार को जानकर तुरंत गुरु के पास आलोचना करने लगा। वह इस प्रकार आलोचना, प्रतिक्रमण करके, यथारीति श्रमणत्व की आराधना कर सौधर्म-

देवलोक में सुवर्ण समान कांतिवान महान् देवता हुआ। वहां से च्यवन होने पर इस भरत में वैताढ्य में गगनवल्लभ नगर के कनककेतु राजा की देवका नामक रानी के गर्भ से शिवचन्द्र नामक उनका मुख्य पुत्र हुआ। जब वह युवावस्था को पहुँचा तब उसने अनेक विद्याएँ सीखकर वसंतश्री नामक राजपुत्री से विवाह किया। तथा श्रीयक भी वहां से निकल कर उसी का छोटा भाई होकर उत्पन्न हुआ। उसका नाम सोमचन्द्र रखा गया। वह भी क्रमानुसार यौवनावस्था को प्राप्त हुआ।

अब निर्दोष और उत्तम विद्याएँ सीखकर तैयार हुए सोमचंद्र कुमार को एक समय मातंगी-विद्या साधने की इच्छा हुई। उस विद्या का ऐसा कल्प है कि-मातंग की लड़की से विवाह करके कुछ दिन मातंग के घर रहकर उसको साधनाविधि करना चाहिये। तब पिता तथा भाई के खूब मना करने तथा बारम्बार रोकने पर भी वह कुणाला नगरी की ओर भाग गया। वहां बहुत सा धन देकर मातंग की लड़की से विवाह किया। पश्चात् विद्या साधने की बात को अलग छोड़, शुद्धबुद्धि खोकर तथा अपने कुल को कलंक लगने की परवाह न करके, पुण्य के प्राग्भार से अत्यन्त रहित होकर उसीमें आसक्त हो गया, जिससे समयानुसार उसके लड़के-लड़की उत्पन्न हुए। इस प्रकार वह मलीन आचरण करता हुआ पाप में लयलीन हो गया। जिससे उसके पिता व भाई आदि ने उसकी बात करना भी छोड़ दिया।

अब एक समय शिवचन्द्र कुमार घोड़े, हाथी, रथ और योद्धाओं से परिवारित होकर विमानों से आकाश को चारों ओर से भरता हुआ, प्रवर विमान पर चढ़कर निकला। उसके मस्तक पर श्वेत छत्र धरा गया। आसपास में बैठी हुई विद्याधरियां उस

पर श्वेत चामर ढोलने लगी। आगे चलते हुए मागध (भाट-चारण) अनेक संग्रामों में उसकी की हुई विजय का वर्णन करने लगे, और कोकिल समान कंठ वाले गवैये उसके महान् गुणों का गान करने लगे। इस प्रकार बहुत काल तक वह गंगा तथा मेरु पर्वत के वनों में तथा जम्बूद्वीप की भूमि पर तथा पद्मवर-वेदिका में क्रीड़ा करके अपने घर की ओर लौटा।

दैवयोग से वह कुणाला नगरी पर से जाते हुए भाई को देख कर स्नेहवश नीचे उतर कर प्रीतिपूर्वक उसे कहने लगा कि—हे भाई! तूं जैसे कौआ मृतक पर गिरता है उस भांति इस अत्यन्त निंदनीय-कुल में क्यों आसक्त हो रहा है? अरे मूढ़! यहां की दुर्गंध के कारण लोग मजबूती से नाक को ढांक कर निकलते हैं। यह तेरी दृष्टि में क्यों नहीं आता? इस स्थान में एक ओर हड्डियों के ढेर पड़े हैं, दूसरी ओर कुत्ते भूंक रहे हैं और तीसरी ओर गिध और कौओं से भयंकर लगता है। यह भी तेरी दृष्टि में क्यों नहीं आता?।

यह सुनकर सोमचन्द्र मानो असमय बिजली गिरने से आहत हुआ हो, वैसे दुःखित हो लज्जा से आंखें मीच कर बोला कि—हे भाई! ऐसा महान् दुःख कौन नहीं समझता है? किन्तु इतना कह कि—पूर्वभव में किये हुए कौनसे दुष्कर्मों के दोष ने मुझे विमल-कुल में बसने से विमुख करा कर, तेरे समान भाई की प्रीति छुड़ा कर ऐसी नीच जाति के काम काज रूप सागर में गिराया है? तब शिवचन्द्र ने विस्मित हो विधिपूर्वक रोहिणी-देवी को स्मरण करके पूछा कि—हे भगवती! मेरे भाई के पूर्वभव का चरित्र कह।

तब रोहिणी-देवी ने महान् अवधिज्ञान से जानकर उसे उसके पूर्व-भव का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह कर स्पष्टतः यह कहा कि:—इसने

पूर्व में जातिमद आदि किया था। उसकी यथारीति आलोचना नहीं की। जिससे तेरे भाई ने ऐसी विटंबना पाई है। और तूं ने सूक्ष्म भूल होने पर भी निःशल्यपन से आलोचना करी थी। जिससे तूं इस प्रकार सुखी हुआ है। यह कह कर देवी अंतर्ध्यान हो गई।

यह सुन शिवचन्द्र (जाति स्मरण पाकर) पूर्व-भव स्मरण करके भाई को कहने लगा कि–हे भाई! अब भी तूं नीच कुटुम्ब का स्नेह तोड़कर इनको छोड़ दे। तथा हे भाई! अपने दुष्कृतों की आलोचना करके तीव्र तपश्चरण कर, इस दुःख को तूं जलांजलि दे। तब सोमचन्द्र बोला कि–हे भाई! मेरी यह अनाथ स्त्री आसन्नप्रसवा है तथा ये लड़के लड़की अभी छोटे हैं। तो कह, इनको कैसे छोड़ सकता हूँ? उसे इस प्रकार मूढ़ हुआ देखकर, शिवचन्द्र ने विचार किया कि–यह अभी धर्म के योग्य नहीं, यह सोच वह उसे छोड़कर अपने नगर में आया। पश्चात् उसने किसी प्रकार माता पिता से अलग हो चारण मुनि के पास संयम लेकर क्लेशों को दूर कर सिद्धि प्राप्त की। और उक्त सोमचन्द्र अनेकों पाप करके समयानुसार मर कर घोर नरक में गया। और दुःखित होकर संसार रूप गहन वन में भटकेगा।

इस भांति श्रेष्ठ आलोचना से सकल कर्म को दूर करने वाले, शिवभद्र मुनि का चरित्र सुनकर, हे सकल दोष जाल को स्थगित करने वाले वाचंयमो! (मुनियों) तुम भूलचूक की शुद्धि करने में विधिपूर्वक यत्न करो।

इस प्रकार शिवभद्र मुनि की कथा पूर्ण हुई।

अब धर्म में प्रवरश्रद्धारूप भाव साधु के दूसरे लिंग का उपसंहार करते हुए प्रज्ञापनीयरूप तीसरे लिंग को सम्बन्धित करते हैं।

एसा पवरासद्धा अणुबद्धा होइ भावसाहुस्स।
एईए सब्भावे पन्नवणिज्जो हवइ एसो ॥१०५॥

मूल का अर्थ—ऐसी प्रवर-श्रद्धा भावसाधु को अनुबद्ध होती है और इसके सद्भाव से वह प्रज्ञापनीय होता है।

टीका का अर्थ—यह अर्थात् चार अंगवाली प्रवर याने उत्कृष्ट श्रद्धा याने धर्म की इच्छा भाव-साधु को अनुबद्ध याने सदैव लगी रहती है, और इस श्रद्धा के सद्भाव से वह भाव-मुनि प्रज्ञापनीय अर्थात् असद्ग्रह से रहित रहता है। भला, क्या चारित्रवान को भी असद्ग्रह होता है? हां, मतिमोह की महिमा से होता भी है। मतिमोह किस से होता होगा? इसका उत्तर कहते हैं—

विहि-उज्जम-वन्नय-भय-उस्सग्ग-ववाय-तदुभयगयाइं।
सुत्ताइं बहुविहाइं समए गंभीरभावाइं ॥१०६॥

मूल का अर्थ—विधि, उद्यम, वर्णक, भय, उत्सर्ग, अपवाद, तदुभय इस सम्बन्ध के बहुत प्रकार के गम्भीर भाव-पूर्ण सूत्र इस जिन शासन में विद्यमान हैं।

टीका का अर्थ—विधि, उद्यम, वर्णक, भय, उत्सर्ग, अपवाद और तदुभय इन पदों का द्वन्द्वसमास करना। द्वन्द्वसमास स्वपद प्रधान होने से, गतपद प्रत्येक के साथ जोड़ा जा सकता है, और

पूरे पद के सूत्र विशेष्य पद हैं। जिसे उसे इस प्रकार जोड़ना कि-कितनेक विधि सम्बन्धी सूत्र हैं। जैसे कि-भिक्षाकाल प्राप्त होते मुनि ने असंभ्रान्त व अमूर्छित रहकर, इस क्रम से भक्तपान का गवेषण करना इत्यादि।

कितनेक उद्यम सूत्र हैं यथा:-ललाई उतर जाने पर पीले हुए झाड़ के पत्ते जैसे गिर पड़ते हैं, वैसा ही मनुष्यों का जीवन है। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर, इत्यादि।

वर्णक सूत्र-'ऋद्धा, स्तिमिता, समृद्ध," इत्यादिक (नगर वर्णन के) प्रायः ज्ञातधर्म-कथादिक अंगों में आते हैं।

भय सूत्र-नरक में मांस,रुधिर आदि कहे गये हैं सो कहा भी है कि-नरक में जो रूढ़ि के अनुसार मांस, रुधिरादिक का वर्णन किया है। वे भय दिखाने के हेतु हैं। वरना वहां वैक्रियत्व होने से वे कहां से आवें? अतः ये भयसूत्र हैं।

उत्सर्ग सूत्र-'इन छकाय के जीवों का स्वयं आरम्भ न करना इत्यादिक छकाय की रक्षा के विधायक सूत्र हैं।

अपवाद सूत्र प्रायः छेद-ग्रंथ में हैं। अथवा "जब गुणाधिक अथवा समगुण ऐसा अन्य चतुर साथी न मिले, तब अकेले होकर भी काम में (विषय सुख में) आसक्त न होते पाप विवर्जित करके विचरते रहना चाहिये"-इत्यादिक जानो।

तदुभय सूत्र वे हैं-जिनमें उत्सर्ग और अपवाद साथ साथ कहे हुए हैं। जैसे कि-"आर्त्तध्यान न होता हो, तब तक व्याधि को भली भांति सहन करना किन्तु जो आर्त्तध्यान होने लगे तो विधि से उसका प्रतिकार करने को प्रवृत्त होना उचित है" इत्यादि।

इस भांति सूत्र अनेक प्रकार के हैं। अर्थात् स्वसमय, परसमय, निश्चय, व्यवहार, ज्ञान, क्रिया आदि विषयों से वे नयमत प्रकट करने वाले और समय अर्थात् सिद्धान्त के विषय में गम्भीर भाववाले अर्थात् महान् बुद्धिमान् पुरुष ही जिनका अभिप्राय समझ सकें ऐसे हैं। इससे क्या हुआ सो कहते हैं :-

तेसि विसयविभागं अमुणंतो नाणवरणकम्मुदया।
मुज्झइ जीवो जीवो तत्तो-सपरेसिमसग्गहं जणइ ॥१०७॥

मूल का अर्थ-उनके विषय विभागों को ज्ञानावरण-कर्म के उदय से न जान सकने वाले जीव मुग्ध हो जाते हैं। और उससे वे आपको व दूसरों को असद्ग्रह उत्पन्न करते हैं।

टीका का अर्थ-उन सूत्रों के विषय विभाग को ज्ञानावरण कर्म के उदय से न जानता हुआ, अर्थात् इन सूत्रों का यह विषय है, और उन सूत्रों का यह विषय है, ऐसा न जानकर प्राणि मोह पाता है और उससे वह अपने आपको व उसके पर्युपासक को असद्ग्रह अर्थात् असद्बोध उपजाता है। जमालि समान। उसकी कथा अत्यन्त प्रसिद्ध होने से नहीं कहते हैं।

तं पुण संविग्गगुरु परहियकरणुज्जयाणुकंपाए।
बोहिंति सुत्तविहिणा पन्नवणिज्जं वियाणंता ॥१०८॥

मूल का अर्थ-वैसे मोह पाये हुए को (मूढ) को भी प्रज्ञापनीय जानकर परहित करने में उद्यत संविग्न गुरु अनुकम्पा लाकर सूत्र में कही हुई रीति से समझाते हैं।

टीका का अर्थ-जो वह अर्थी और विनीत हो, तो उस मूढ़ को संविग्न पूज्य पुरुष परोपकाररसिक होने से अनुकम्पा द्वारा

अर्थात् यह विचारा दुर्गति को न जाये, इस भांति अनुग्रहबुद्धि द्वारा प्रेरित होकर सूत्रविधि से अर्थात् आगम में कही हुई युक्तियों से समझाते हैं. किन्तु तभी कि-जब वह उनको प्रज्ञापनीय अर्थात् प्रज्ञापन करने योग्य जान पड़े अन्यथा अप्रज्ञापनीय को तो सर्वज्ञ भी नहीं समझा सकता।

सोवि असग्गहच्चाया सुविसुद्धं दंसणं चरित्तं च।
आराहिउं समत्थो होइ सुहं उज्जुभावाओ ॥१०९॥

मूल का अर्थ-वह भी असद्ग्रह का त्याग करके सरलभाव से सुखपूर्वक विशुद्ध दर्शन और चारित्र का आराधन करने को समर्थ होता है।

टीका का अर्थ-वह भी प्रज्ञापनीय मुनि सुनंद राजर्षि के समान असद्ग्रह का त्याग करके अर्थात् स्वकल्पित बोध छोड़कर सुविशुद्ध अर्थात् अतिनिर्मल सम्यक्त्व चारित्र तथा च शब्द से ज्ञान व तप का सुखपूर्वक आराधन करने को समर्थ होता है, क्योंकि-वह आर्जवगुणवाला होता है।

सुनन्दराजर्षि की कथा इस प्रकार है।

यहां कांपिल्यपुर का सुनन्द नामक राजा था। वह अति-प्रबल प्रताप से सूर्य को भी जीता हुआ था तथा दुश्मनरूपी कंद को समूल उखाड़ने वाला था। उसके वज्रायुध नामक प्राण से भी अधिक प्रिय एक मित्र था। वह शुद्ध श्रावक-धर्म पालने में उद्यत और सात तत्त्वों का ज्ञाता था।

अब एक समय उतावला आने से उपजे हुए प्रबल श्वास से रुंधे हुए कंठ के द्वारा सीमारक्षक राजा को इस प्रकार कहने

लगा–हे देव ! यह एक महान आश्चर्य दीखता है कि–हरिण जाकर सिंह की केसर तोड़ता है और अंधकार सूर्य को जीतना चाहता है। (यह कहकर उसने कहा कि–) उत्तर-दिशाधिपति दुर्दम भीमराजा जिस प्रकार इन्द्रियग्राम गुणों को नष्ट करता है, उस प्रकार आपके देश को नष्ट करता है।

यह सुन राजा ने क्रुद्ध होकर रण का नगारा बजवाया। इतने में शुद्ध बुद्धिमान् मंत्रिगण उसे कहने लगे–हे देव ! इस दुश्मन को दैव सहायक है। वैसे ही लड़ाई की गति न्यारी है। जीत हो भी जाय और न भी हो। व बड़े-बड़े मनुष्यों का क्षय तो निश्चयतः होता है। इस कारण से साम, दाम और दान के अतिरिक्त हम यहां अभी दूसरी नीति पसन्द नहीं करते। अतः हे देव ! जो उचित हो सो करिये।

क्योंकि–साम से शत्रु हो सो मित्र हो जाता है। भेद से मित्र हो वह भी फोड़ा जा सकता है। दान से पत्थर के बने हुए देव भी वश में हो जाते हैं। इसलिये यथायोग्य रीति से इन तीनों का प्रयोग करने के अनन्तर जो दंड करने को तैयार होओगे तो अवश्य शत्रुओं का काला मुंह कर सकोगे। क्योंकि–इस प्रकार से यत्न करने वाले छोटे-छोटे राजाओं ने भी महान् लक्ष्मी प्राप्त की है, और इससे विपरीत यत्न करने वाले बड़े-बड़े भी नष्ट हो गये हैं। इसलिये हे देव ! शत्रु के सामन्त, मन्त्री और मित्रों का हृदय जानकर अपने विश्वस्त मनुष्यों द्वारा योग्य सामादिक भेजकर आप शीघ्र विजय यात्रा कर सकोगे और यश वृद्धि के साथ ही जयलक्ष्मी प्राप्त करोगे। अतएव नीतिरूप कवच पहिरकर दुश्मनों के सुभटों का भडवाद भंग करो।

इस प्रकार मन्त्री के वचन सुनकर किंचित हँसकर राजा बोला कि-वणिक और ब्राह्मणों में ऐसी ही मति होती है। अन्यथा

दुर्जय दुश्मनों के हाथियों का दल भंग करने में सिंह समान मेरे सन्मुख इस प्रकार रणकर्म को अधर्म क्यों ठहरावें। इसीलिये विना विचारे कुछ भी बोलने वाले मनुष्य यहां बुलबुलों से भी हलके होते हैं और पराभव पाते हैं।

यह कहकर भालस्थल पर भ्रकुटी चढ़ा राजा ने शीघ्र ही दुश्मनों को डराने वाला जय डंका बजवाया। तब उसके शब्दों के फैलते ही चतुरंग सैन्य एकत्रित हुआ। वह उसने साथ में लिया और अग्रसेन्य का नायकत्व वज्रायुध को दिया। पश्चात् वह बिना विलम्ब के प्रयाण करता हुआ शत्रु राजा के मंडल में पैठा, तो उसे आता देखकर भीम ही शीघ्र सन्मुख आया।

अब वहां उनके दोनों सैन्यों का महायुद्ध जमा। जिसमें योद्धाओं की ललकार से कायर लोग डर कर भागते थे। व मरे हुए हाथी, घोड़ों और सुभटों से रास्ता भरजाने से लोग विस्मित हो जाते थे। वहां की वसति सोचने लगी कि- यह तो सहसा प्रलयकाल ही आया जान पड़ता है इस प्रकार उनका युद्ध चला। अब थोड़े ही समय में शत्रु के सुभटों ने अवसर देख कर सुनन्द के सैन्य को, जैसे सूर्य की किरणें अन्धकार को तोड़ती है उस भांति तोड़ डाला। और वज्रायुध, जयकुंजर तथा शत्रुंजय आदि राजा रणभूमि में गिर पड़े। इस बात की सुनन्द राजा को भी खबर हुई।

अब उसके मन्त्री उसे कहने लगे कि-हे देव! अब भी लड़ाई बन्द कीजिए। दुश्मनों के मनोरथ पूर्णमत कीजिए तथा अपनी शक्ति का विचार करिये। क्योंकि-बलविरुद्ध कार्य क्षय का मूल होता है। ऐसा चतुरजन कहते हैं। अतः किसी भी प्रकार से अपना बचाव करना चाहिये। हे देव! राज्यश्री तो पुनः भी परा-

क्रम से प्राप्त की जा सकती है, किन्तु जीवित गया तो वह इस जन्म में पुनः नहीं मिलता।

विचार करो कि-राहु के मुख में से सारा निकल कर सूर्य ललाई छोड़कर पुनः उत्कृष्ट तेज धारण करता है। तथा अपन सुनते हैं कि-पूर्व में भी अपनी लाग न देखकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा यादव प्रभु (श्रीकृष्ण) भाग गये थे। मन्त्रियों के इस प्रकार कहने पर सुनन्द राजा अपना दुराग्रह छोड़कर लड़ाई से पीछे हटा। क्योंकि-चतुर मनुष्य समय पहिचानते हैं। तब अपने प्रतिपक्ष को पीछे हटकर भागता देख भीम राजा उसके पीछे प्रहार न करके दया लाकर पीछे फिरा।

अब वज्रायुध की मृत्यु से तथा शत्रु के किये हुए पराभव से सुनन्द राजा अपने को मृत तुल्य मानकर अतिशय दुःख का अनुभव करने लगा। इससे चिन्ता के कारण रात्रि को नींद नहीं आई। इतने में एक देवता प्रकट होकर कहने लगा कि-मैं तेरा वज्रायुध मित्र हूँ। उस समय मैं अपने को दुश्मनों से सख्त आहत हुआ जानकर रणभूमि से बाहिर निकल, हाथी से नीचे उतर द्रव्यशल्य तथा भावशल्य दूर कर पाप की निन्दा करके समाधि से नवकार का स्मरण करता हुआ मर कर प्रथम-देवलोक में देवता हुआ हूँ। बाद अवधिज्ञान से शत्रु के पराभव से होता हुआ तेरा दुःख देखकर उसको टालने के लिये परम प्रेम के कारण यहां आया हूँ।

इसलिये हे मित्र! खेद छोड़, प्रभात होते ही लड़ने को उद्यत हो और दुश्मन को हराकर शरदऋतु के बादलों के समान कीर्ति प्राप्त कर।

इस प्रकार मित्र देवता का वचन सुनकर राजा विकसित मुख से शीघ्र ही सैन्य सहित पुनः शत्रु की ओर बढ़ा।

अब अनेक लड़ाइयों में प्राप्त किये हुए विजय से गर्वित हुआ भीमराज पुनः सुनन्द को आता देखकर सन्मुख खड़ा रहा। अब पुनः लड़ाई प्रारम्भ हुई किन्तु उसमें मित्रदेव के प्रताप से प्रथम सपाटे में ही सुनन्द राजा ने भीमराजा को जीता। तब उसके सेवा करना स्वीकार करने पर उसे उसी राज्य पर स्थापित करके सुनन्द अपने देश को रवाना हुआ, और देव अपने स्थान को गया।

अब सुनन्द ने मार्ग में चलते-चलते श्रीपुर के उद्यान में ऋषभदेव स्वामी के मन्दिर के समीप वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक मुनि को देखा। तथा उनके सन्मुख बहुत से लोगों के बीच में बैठे हुए एक वानर को देखा। जो कि—मुनि के बोले हुए नमस्कार मन्त्र को सुनने में दत्तचित्त हो रहा था। तब राजा विस्मित हो, वहां आकर मुनीश्वर को प्रणाम करके बैठ गया। इतने में उक्त वानर मर गया।

अब राजा बोला कि—हे मुनीश्वर! यह एक आश्चर्य की बात है कि—ऐसे अति चपल मनवाले वानर भी जिनधर्म में निश्चल मन रख सकते हैं। अतः कहिए कि—यह पूर्व में कौन था?

साधु बोले कि—हे नरेन्द्र! यह तीसरे भव पर मथुरा में एक वणिक था। उसने संवेग पाकर एक समय सुभद्र गुरु से दीक्षा ग्रहण की और वह महान् तप करने लगा किन्तु जड़ होने से जरा हठीला रहता था। अन्तसमय वह अनशन करके सौधर्म-देवलोक में देवता हुआ। पश्चात् जब उसे अपना छः मास आयुष्य

रहा जान पड़ा, तब केवली को वन्दना करके पूछने लगा कि-हे पूज्य ! यहां से च्यव कर मैं कहां उत्पन्न होऊंगा। साथ ही मुझे किस प्रकार बोधिलाभ होगा ?

तब केवली ने कहा कि-हे भद्र ! तूं अन्तसमय आर्त्तध्यान से मरकर श्रीपुर के उद्यान में वानर होगा। और वहां किसी प्रकार जिनबिम्ब को देखकर तुझे बोधिलाभ होगा। यह सुन कर वह देवता तुरन्त उस उद्यान में आया। वहां उसने तुष्ट मन से अत्यन्त ऊंचे शिखर की शोभा से हिमाचल के शिखर की अणियों को हंसता, पवन से फरकती हुई ध्वजाओं में रणकती मणि किंकिणियों वाला, प्रज्वलित उत्तम कपूर और अगर से मघमघाय-मान सुगंध से परिपूर्ण, हजार स्तम्भ वाला, मणिजटित चम-कीली भीतों वाला श्रीयुगादि जिनेश्वर का यह मन्दिर तैयार किया और स्वयं पूर्व में वानर का आयुष्य सम्पादित किया होने से च्यव कर यह वानर हुआ।

अब इसने भटकते-भटकते किसी प्रकार आज से तीसरे दिन पहिले यह जिन-भवन देखा। जिससे इसे जातिस्मरण हुआ। जिससे यह वैराग्य प्राप्त कर मेरे समीप आकर अनशन कर पंच-परमेष्ठि मंत्र स्मरण करता हुआ मरा है

इस भांति मुनि वानर का चरित्र कह रहे थे इतने में वह वानर का जीव सौधर्मदेवलोक के हिमप्रभ नामक उत्तम विमान में चन्द्र समान उज्वल देवांशुक से ढांकी हुई देवशय्या में सीप में मोती की भांति देवरूप में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने के अनन्तर तुरन्त ही देवांशुक को दूर करके, बैठा हो अति विस्मित हृदय से चारों ओर देखता हुआ और "जय-जय नन्दा, जय-जय भद्दा" इत्यादि हर्षित हृदयवाली देवांगनाओं के मधुर वचन सुनता

हुआ, वह सोचने लगा कि-मैंने पूर्व-भव में क्या दिया है ? क्या तप किया है ? अथवा क्या पूजा है ? ऐसी चिन्ता में अवधिज्ञान से वह वानर के भव को जानने लगा। वह देव समस्त देवकृत्य छोड़कर बहुत से देव-देवियों सहित जहां उक्त मुनि थे वहां आकर विनय पूर्वक मुनि के चरणों में नमे। पश्चात् रोमांचित होकर श्री ऋषभदेव की पूजा करके तथा वारम्वार उक्त साधु को नमन करके वह (देव) स्वर्ग को गया।

यह दृश्य देखकर सुनन्द राजा ने संवेग पाकर अपने सहस्रायुध नामक पुत्र को राज्य सौंप उक्त साधु से दीक्षा ग्रहण की। अब सहस्रायुध राजा सुनन्द राजर्षि को नमन करके कांपिल्यपुर में आ त्रिवर्ग का ध्यान रखते हुए राज्य करने लगा। सुनन्द साधु भी दीर्घकाल तक दशविध सामाचारी पालने में तत्पर और प्रसन्नचित्त रह कर गुरु के साथ पृथ्वी पर विचरने लगा।

अब उक्त राजर्षि एक समय प्रतिकूल कर्म के जोर से प्रेरित होकर, शुभ अध्यवसाय से रहित हो इस प्रकार सोचने लगा कि-प्रतिलेखन प्रमार्जना आदि क्रियाएं किये बिना भी जीव नियति के भाव से सुगति को प्राप्त कर सकते हैं, यह बात निश्चित है। अन्यथा महायुद्ध के व्यापार में चित्त और बल को लगाने वाला मेरा मित्र वज्रायुध देवता कैसे होता ? वैसे ही उस समय अतिशुद्ध चारित्र की क्रिया से उक्त वानर का जीव तप्त उच्च सुवर्ण के समान वर्ण वाला देव हुआ।

सिद्धान्त में भी सुना जाता है कि-तथाभवितव्यता के बल से मरुदेवी आदि कुछ भी क्रिया किये बिना ही मोक्ष को पहुँचे हैं। इसलिये तथाभवितव्यता ही केवल कल्याण कलाप का परम कारण है। जो वह न हो तो समस्त कर्त्तव्य-क्रिया नष्ट हो जाती

है। संयम और तप आदि से तथाभव्यत्वभाव पकता है। यह कहना भी तुच्छ (निरर्थक) है। क्योंकि—मरुदेवी आदि को तप, संयम न थे, तथापि उनका पाक क्यों हुआ? इस प्रकार चारित्रावरणी कर्म से शुद्धपरिणाम में रुककर वह साधु तप व क्रिया में किंचित् क्षुद्र आदरवन्त हुआ।

अब गुरु ने श्रुतज्ञान के बल से उसका अभिप्राय जान लिया और यह भी जाना कि—वह प्रज्ञापनीय है। जिससे वे मधुरवाणी से इस प्रकार कहने लगे कि—हे भद्र! प्रतिलेखनादिक क्रिया जो कि—सुगति के मार्ग की दीपिका के समान है। उसमें क्षणभर भी प्रमाद मत कर। नियतिभाव ही से कार्यसिद्धि होती है। यह भी एकान्त नहीं, क्योंकि—उद्यम और काल आदि को भी कार्य के हेतु कहे हैं।

क्योंकि कहा भी है कि—काल, स्वभाव नियति, पूर्वकृत और पुरुषकार इन पांच कारणों को पृथक-पृथक एकांत मानने से मिथ्यात्व होता है और साथ मानने से सम्यक्त्व रहता है। तथा जो मरुदेवी पूर्व में तप, नियम, और संयम किये बिना उसी भव में शुभ भाव के योग से सिद्धि को प्राप्त हुई। यह उदाहरण यद्यपि जगत् में आश्चर्यकारक है। तथापि चतुर-जनों ने उसे कदापि नहीं पकड़ना चाहिये। क्योंकि—उससे व्यवहार का विलोप हो जाता है।

आगम में भी कहा है कि-जो जिनमत स्वीकार करो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों को मत छोड़ो। क्योंकि—व्यवहार को छोड़ देने से तीर्थ का उच्छेद होता है ऐसा कहा है। व्यवहार भी बलवान है क्योंकि—केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी जब तक वह स्पष्ट ज्ञात न हुआ हो तब तक वह केवली—शिष्य अपने छद्मस्थ-

गुरु को वन्दना करता है, तथा श्रुत-व्यवहार से जांच कर लाया हुआ आहार कदाचित् आधाकर्मी हो तो भी श्रुत-व्यवहार को प्रमाण रखने के हेतु केवली जीमते हैं।

जैसे अभागा मनुष्य निधान में पड़े हुए धन को भी खोदकर न निकालते केवल प्रार्थना करता रह कर नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही यहां जो प्रत्येकबुद्ध की लक्ष्मी प्राप्त करने की प्रार्थना करता है, उसके भी यही हाल होते हैं। और तथाभव्यता ही से मोक्ष मिलता है। अतः दुष्कर क्रिया करने का क्या काम है? ऐसा कहना भी ठीक नहीं, कहा भी है कि-देवपूज्य चतुर्ज्ञानी तीर्थंकर जानते ही हैं कि-मुझे निश्चय सिद्धि ही को जाना है। तथापि बलवीर्य गोपन किये बिना यथाशक्ति उद्यम करते रहते हैं। इस प्रकार लगभग संसारसागर के पार पहुँचे हुए तीर्थंकर भी उद्यम करते हैं, तो फिर दूसरों को यहां कौनसा अन्देशा है।

इस प्रकार हृदय में उत्पन्न हुए कुग्रह को टालने के लिये मन्त्र समान गुरु की वाणी सुनकर सुनन्द साधु प्रज्ञापनीय और भाग्यवान होने से अपने असद्ग्रह को छोड़कर गुरु से आलोचना लेकर विशेष निश्चल मन रख निष्कलंक चारित्र पालने लगा। वह दीर्घकाल तक चारित्र का पालन कर ध्यानाग्नि से कर्मवन को जला, अज्ञानरूप अन्धकार को सूर्य के समान दूर करके सिद्धिपद को प्राप्त हुआ।

इस भांति धर्म में मन को स्थिर करने वाला सुनन्द-राजर्षि का चरित्र सुनकर मुमुक्षजनों ने असद्ग्रह को [illegible] के लिये प्रज्ञापनीयपन धारण करना चाहिये।

इस प्रकार सुनन्द राजर्षि की कथा पूर्ण

इस प्रकार प्रज्ञापनीयत्व रूप भाव-साधु का तीसरा लिंग कहा। अब क्रियाओं में अप्रमादरूप चौथे लिंग की व्याख्या करते हैं:—

सुगइनिमित्तं चरणं तं पुण छक्कायसंजमो येन।
सो पालिउं न तीरइ विगहाइपमायजुत्तेहिं ॥११०॥

मूल का अर्थ—सुगति का कारण चारित्र है, और षट्काय का रक्षण करना यही चारित्र है। वह विकथादिक प्रमाद में फंसे हुओं से नहीं पाला जा सकता।

टीका का अर्थ—शोभन (श्रेष्ठ) गति सो सुगति अर्थात् सिद्धि ही सुगति गिनी जाती है! उसका निमित्त अर्थात् कारण चरण अर्थात् यतिधर्म ही है। कहा भी है कि:—अन्यरीति से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, इसीसे सिद्धि का यही उपाय है कि—आरम्भ में प्रवृत्त न होना।

कहा है कि—वहाण के बिना केवल बाहुओं से महान् सागर को किसी भांति पार कर सकता है; किन्तु शील बिना सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। यह जानकर यतिधर्म में चित्त को दृढ़ करना। उक्त चरण और कुछ नहीं, किन्तु षट्काय का संयम अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, वनस्पति और त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना मात्र है। सारांश यह है कि—साधु षट्काय में से एक भी काय की विराधना करे तो परमेश्वर की आज्ञा का लोप करनेवाला होने से अचारित्री और संसार को बढ़ाने वाला होता है। तथा समस्त भ्रमरूप अन्धकार का नाश करनेवाले श्री धर्मदासगणि भी कहते हैं कि:—

जैसे कोई अमात्य राजा का सर्व कारभार चलाने का काम स्वीकार कर जो आज्ञा का भंग करे तो, वह वध बंधन पाता है;

तथा उसका द्रव्य छीन लिया जाता है। वैसे ही पट्काय की हिंस से सर्वथा निवृत्तिरूप महाव्रत लेकर यति जो उनमें के एक काय की भी विराधना करे तो भी अमात्य और राजा के दृष्टान्त से बोधि का नाश करता है।

बोधि नष्ट होने पर, फिर वह किये हुए अपराध के अनुसार अमित दुःख पाकर पुनः संसार समुद्र में पड़ा हुआ जरा-मरण के चक्र में भटकता रहता है। तथा यति का धर्म यह है कि-पट्काय के जीव तथा महाव्रत यथारीति पालना। अब जो उनको न रखे तो फिर कहो कि-उसका क्या धर्म रहा? पट्काय की दया से जो रहित हो, वह साधु भी नहीं गिना जाता और गृहस्थ भी नहीं गिना जाता। वह यतिधर्म से तो भ्रष्ट हुआ व गृहस्थ के दानधर्म से भी भ्रष्ट ही है। इत्यादि।

अब संयम को विकथा अर्थात् रोहिणी की कथा में विस्तार से वर्णित की हुई राजकथा आदि तथा आदि शब्द से विषयकषायादिरूप प्रमाद से जो युक्त हो, वे पाल नहीं सकते। अतः सुसाधु जनों ने यह विकथादि प्रमाद न करना चाहिये। प्रमाद ही को विशेषता से हानि करने वाला बताते हैं।

पव्वज्जं विज्जं पिव साहंतो होइ जो पमाइल्लो।
तस्स न सिज्झइ एसा करेइ गरुयं च अवयारं ॥१११॥

मूल का अर्थ-प्रव्रज्या को विद्या की माफक साधता हुआ जो प्रमादी होता है। उसको वह सिद्ध नहीं होती और उलटी भारी नुकसान करती है।

टीका का अर्थ-प्रव्रज्या अर्थात् जिन-दीक्षा। यह स्त्रीदेवता से अधिष्ठित विद्या समान है। उसको साधते जो प्रमादिल्ल

अर्थात् प्रमादवान् हो (यहां मतु, प्रत्यय को आलु, इल्ल, उल्ल, आल, वन्त, मन्त, इत्त, इर और मण इतने आदेश होने से इल्ल आदेश लिया है) ऐसे प्रमादी को विद्या के समान यह पारमेश्वरी दीक्षा सिद्ध नहीं होती, और उलटा भारी अपकार अर्थात् अनर्थ करता है।

भावार्थ यह है कि—जैसे इस जगत में प्रमादवाले साधक को विद्या सिद्ध नहीं होती और उलटा ग्रहसंक्रमादिक अनर्थ उत्पन्न कर देती है वैसे ही शीतल–विहारी को जिन-दीक्षा भी सुगति नहीं देती। इतना ही नहीं, पर देव सम्बन्धी दुर्गति तथा दीर्घ-भवभ्रमणरूप अनर्थ करती है। आर्यमंगु के समान।

कहा भी है कि–शीतल–विहार करने से निश्चयतः भगवान् की आशातना होती है, और आशातना से क्लेशयुक्त दीर्घ–संसार बढ़ जाता है क्योंकि कहा जाता है कि–तीर्थंकर, प्रवचन(संघ), श्रुत और महाऋद्धिवान् गणधर आचार्य की बारम्बार आशातना करने वाला अनन्त संसारी होता है। अतएव साधु को अप्रमादी होना चाहिये।

आर्यमंगु की कथा इस प्रकार है—

यहां आर्यमंगु नामक आचार्य थे। वे स्वसमय और परसमय रूप सोने की परीक्षा करने में कसौटी समान थे तथा अति भक्ति-युक्त और शुश्रूषावाले शिष्य को सूत्रार्थ देने में तत्पर रहते थे। वे सद्धर्म की देशना से अनेक भव्यलोगों को प्रतिबोधित करते हुए, एक समय विहार करते-करते मथुरा नगरी में आये।

वे वहां सख्त प्रमादरूप पिशाच से घिर कर तपश्चरण को छोड़ त्रिगारव में प्रतिबद्ध रहकर श्रावकों में ममत्व करने लगे।

तथा भक्तजनों के निरन्तर दिये हुए उत्तम अन्न और वस्त्र के लोभ से उद्यत विहार छोड़कर चिरकाल तक वहीं पड़े रहे। इस प्रकार साधुपन में खूब शिथिल हो सख्त प्रमाद को छोड़े बिना समय पर मर कर, उसी नगर के निर्धमन में (पानी निकलने के मार्ग में) यक्ष रूप से उत्पन्न हुए।

वह ज्ञान द्वारा अपने पूर्वभव को जानकर सोचने लगा कि-हाय-हाय! मैं पापी प्रमादरूप मदिरा में कैसा मत्त बन गया कि-दारिद्र नाशक महानिधान के समान प्रतिपूर्ण पुण्य से मिलते जिनमत को पाकर भी मैंने उसे कैसा विफल किया? मनुष्यक्षेत्र मनुष्यजाति आदि धर्मसामग्री पाकर भी हाय-हाय! मैंने प्रमाद से खो दी। अतः अब उसे पुनः कैसे पाऊंगा?

अरे निराश पापी जीव! उस समय तूं ने शास्त्र के अर्थ का ज्ञाता होकर भी, ऋद्धिगारव और रसगारव की विरसता क्यों न जानी? चौदह पूर्वधारी भी प्रमाद से निगोद में जाते हैं। इतना भी हे पापी जीव! तूं ने उस समय नहीं स्मरण किया?

धिक्कार है! मेरी बुद्धि की सूक्ष्मता को, मेरी अनेक शास्त्रों में रही हुई कुशलता को और केवल परोपदेश करने ही में रही अत्यन्त पंडिताई को।

इस प्रकार वह परम निर्वेद पाकर अपने प्रमाद के दुर्विलसित की निन्दा करता हुआ, क़ैदखाने में पड़ा हुआ हो, वैसे दिन व्यतीत करने लगा। अब उस मार्ग में स्थंडिल को जाते अपने शिष्यों को देखकर उनके प्रतिबोध के हेतु वह अपनी प्रतिमा के मुख में से लम्बी जीभ निकाल कर (खड़ा) रहा। उसे देखकर वे मुनि समीप आकर यह बोले कि-जो कोई यहां देव, यक्ष,

राक्षस वा किन्नर हो, वह प्रकट होकर बोलो अन्यथा हम कुछ भी नहीं समझ सकते।

तब विषाद के साथ यक्ष बोला कि-हे तपस्विओं! मैं तुम्हारा वह क्रिया में प्रमादी बना हुआ आर्यमंगु गुरु हूँ। तब साधुओं ने भी दिलगीर होकर कहा कि-अफसोस कि-आप ऐसे श्रुतनिधान होकर कैसे ऐसी दुर्गति को पहुँचे हैं! अहो! यह तो महान् आश्चर्य है। यक्ष बोला कि-हे महाभाग साधुओं! इसमें कुछ भी कहना नहीं। यहां प्रमादवश चारित्र में शिथिल होने वाले, अवसन्न-विहारी, ऋद्धिरस तथा सातागारव से भारी बने हुए, साधु की क्रिया न करनेवाले मेरे जैसे पुरुषों की यही गति होती है।

इस प्रकार हे मुनियों! मेरा कुदेवत्व भलिभांति विचार करके जो तुमको सुगति का काम हो और जो कुगति में जाने से डरते हो, तो सम्पूर्ण प्रमाद छोड़कर विहार करने में उद्युक्त रहकर के सदैव चारित्रयुक्त, गारव रहित, ममता रहित और तीव्र तपयुक्त होओ। तब वे साधु बोले कि-हे देवानुप्रिय! तुमने हमको ठीक प्रतिबोधित किया। यह कहकर वे संयम में उद्योगी हुए।

इस भांति आर्यमंगु सूरि ने प्रमाद के कारण निकृष्ट फल पाया। अतएव हे शुभमतिओं! तुम चारित्र में सदैव शीघ्राति-शीघ्र उद्यमवान् होओ।

इस प्रकार आर्यमंगु की कथा पूर्ण हुई।

पुनः प्रमाद ही का अन्य युक्ति से निषेध करते हैं—

पडिलेहणाइ चिट्ठा छक्कायविघाइणी पमत्तस्स।
भणिया सुयंमि तम्हा अपमाई सुविहिओ हुज्जा ॥११२॥

मूल का अर्थ—प्रमत्त की प्रतिलेखना आदि चेष्टा छः काय की विघात करनेवाली कही हुई है। अतः सुविहित ने अप्रमादी होना चाहिये।

टीका का अर्थ—प्रत्युपेक्षणा करना सो प्रतिलेखना जानो। आदिशब्द से गमनादिक लेना। तद्रूप चेष्टा अर्थात् क्रिया वा व्यापार। क्योंकि—ये तीनों शब्द एक अर्थ वाले हैं। वह प्रमादी साधु की षट्काय की विघातक होती है। ऐसा श्रुत अर्थात् सिद्धान्त में कहा हुआ है।

प्रतिलेखना करते हुए जो परस्पर बातचीत करे अथवा जनपद कथा करे अथवा प्रत्याख्यान दे अथवा वांचे व वाचना दे तो वह प्रतिलेखना में प्रमत्त हो कर पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु, वनस्पति और त्रस इन षटकायों का विराधक होता है। क्योंकि—वैसा करते जो घड़ा आदि ढुलजाय तो मिट्टी, अग्नि, वायु और कुन्थु आदि तथा पानी में रहे हुए त्रस जीव और पानी के जीवों की (विराधना होती है) तथा उल्मुक का संघट्टा होने से उसकी विराधना होती है।

इस प्रकार द्रव्य से छःहों काय का विराधक गिना जाता है और भाव से जिस काय की विराधना करे उसीका विराधक गिना जाता है, परन्तु उपयुक्त साधु कदाचित् विराधना करे तो भी अवधक (अघातक—अविराधक) ही है, इत्यादि। अतः सुविहित अर्थात् उत्तम अनुष्ठान वाले मुनि ने सर्व व्यापार में अप्रमत्त होना चाहिये।

अब कैसा होने पर अप्रमादी हो, सो कहते हैं—

रक्खइ वएसु खलियं उवउत्तो होइ समिइगुत्तीसु,
वज्जइ अवज्जहेउं पमायचरियं सुथिरचित्तो ॥११३

मूल का अर्थ—व्रत में स्खलित न करे, समिति गुप्ति में उपयोग रखे, पाप के हेतु प्रमादाचरित को स्थिरचित्त होकर वर्जन करे।

टीका का अर्थ—व्रत में स्खलित अर्थात् अतिचार को अकरणीय जानकर त्याग करे। वहां प्राणातिपातविरति में त्रस स्थावर जीवों का संघट्टन, परितापन और उपद्रावण न करे। मृषावाद विरति में सूक्ष्म अर्थात् अनाभोगादिक से और बादर अर्थात् वंचनाभिप्राय से बोलने से मृषावाद का वर्जन करे। अदत्तादानविरति में सूक्ष्म अर्थात् आज्ञा विना रहने आदि का न करे और बादर याने स्वामी, जीव, तीर्थंकर और गुरु का अनुज्ञात न किया हुआ न ले और न भोगे। चौथे व्रत में वसति. कथा, निषद्या, इंद्रिय, कुड्यंतर, पूर्वक्रीडित, प्रणीतभोजन, अतिमात्र आहार और विभूषण ये नव ब्रह्मचर्य की गुप्तियां है। इनके सहित ब्रह्मचर्य का पालन करे।

पांचवें व्रत में सूक्ष्म याने बाल आदि की ममता न करे और बादर याने अनेषणीय आहार आदि न ले। क्योंकि–अनेषणीय लेना परिग्रह है। ऐसा कहा हुआ है। अथवा मूर्छा से अधिक उपकरण धारण न करे, क्योंकि–मूर्छा परिग्रह है, ऐसा कहा हुआ है। रात्रिभोजनविरति में सूक्ष्म याने मिठाई (शुष्कसन्निधि) भी वासी न रखे। बादर याने दिन में लिया दिन में खाया, दिन में लिया रात्रि में खाया, रात्रि में लिया दिन में खाया, रात्रि में लिया रात्रि में खाया, इस भांति रात्रिभोजन न करे। इस प्रकार सर्व व्रतों में स्खलित का रक्षण करे। वैसे ही उपयुक्त अर्थात् सावधान हो, समितियों में अर्थात् प्रविचाररूप अर्थात् प्रवृत्तिरूप रीतियों में।

कहा भी है कि—समितिवान् हो सो निश्चय गुप्त गिना जाता है। गुप्तिवान् में समितिवान्पन की भजना है। क्योंकि—कुशल-वाणी बोलता हुआ वचनगुप्तिवान् भी गिना जाता है और समिति-वान् भी गिना जाता है। तथा गुप्तियों में अप्रवीचार और प्रवीचार रूप अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप इसमें उपयुक्तता सो प्रवचन मातृ नामक अध्ययन में कही हुई विधि से जानना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय ? संक्षेप में अवद्य हेतु अर्थात् पाप के कारण भूत प्रमादचरित को ठीक-ठीक स्थिरचित्त रख कर वर्जन करे, यह बात स्पष्ट अर्थवाली ही है।

कालंमि अणूणहियं किरियंतरविरहिओ जहासुत्तं।
आयरइ सव्वकिरियं अपमाई जो इह चरित्ती ॥११४॥

मूल का अर्थ—तथा सर्व क्रिया को यथासमय अन्यूनाधिक रीति से अन्य क्रिया छोड़कर सूत्रानुसार आचरे, वह अप्रमादी चारित्रीय है।

टीका का अर्थ—सर्व क्रिया का यथासमय अन्यूनाधिकता से अन्य क्रिया छोड़कर सूत्र के अनुसार आचरण करे सो अप्रमादी चारित्री है। काले याने अवसर पर अर्थात् जिस प्रतिलेखन आदि क्रिया का जो प्रस्ताव (समय) हो उस समय—अवसर के बिना खेती आदि भी इष्टसिद्धि नहीं देती। अतः अवसर पर समस्त क्रिया करे ऐसा कहा है। वह किस प्रकार की सो कहते हैं—

अन्यूनाधिक अर्थात् प्रमादवश कम भी न करे और शून्य-चित्त रख कर अधिक भी न करे। क्योंकि—वैसा करने से अवसन्न कहलाता है। पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने भी कहा है कि—"आव-श्यकादिक न करे, अथवा न्यूनाधिक करे, अथवा गुरु के वचन-

बल से करे सो अवसन्न कहलाता है। तथा क्रियान्तर विरहित रहे, अर्थात् एक क्रिया के बीच में दूसरी क्रिया का अन्तर न करे—अर्थात् प्रतिलेखना आदि करते स्वाध्याय न करे और स्वाध्याय करते वस्त्रपात्र आदि का परिकर्म अथवा गमन आदि न करे इसीसे आगम में कहा है कि—

इन्द्रियार्थ (विषय) छोड़कर और पांच प्रकार का स्वाध्याय छोड़कर, तन्मूर्ति (तन्मय) और तत्पुरस्कार उसी को आगे करनेवाला होकर उपयोग रखकर विहार करना।

यथासूत्र अर्थात् सूत्र का उल्लंघन न करके-जैसा सूत्र में हो वैसा। वहां सूत्र सो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली (चौदहपूर्वी) तथा पूर्ण दशपूर्वी का रचा हुआ हो सो जानो। क्योंकि—इतने निश्चयतः सम्यग्दृष्टि होने से सत्य बात ही के बोलनेवाले होते हैं। तथा उनसे मिलता हुआ दूसरे का रचा हुआ भी प्रामाणिक ही माना जाता है किन्तु न मिलता हुआ प्रामाणिक नहीं माना जाता। इस प्रकार सर्व क्रियाओं में अप्रमादी होकर जो आचरण करता है वह यहां चारित्रवान् है।

इस प्रकार क्रियाओं में अप्रमादरूप भाव-साधु का चौथा लिंग कहा। अब शक्यानुष्ठानारंभ रूप पांचवें लिंग की व्याख्या करते हैं:—

संघयणादणुरूवं आरंभइ सव्वमेवणुट्ठाणं।
बहुलाभमप्पछेयं सुयसारविसारओ सुजइ ॥११५॥

मूल का अर्थ—संघयण आदि को अनुरूप शक्य अनुष्ठान जो कि—अति लाभ देनेवाला और कम नुकसान वाला हो, उसी को श्रुत के सार को जाननेवाले सुयति आरम्भ करते हैं।

टीका का अर्थ-संघयण याने वज्रर्षभनाराच आदि और आदि-शब्द से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लेना। उनको अनुरूप अर्थात् उचित हो वैसे ही सम्पूर्ण अनुष्ठान को जिस संघयण में जो तप, प्रतिमा वा कल्प आदि कर सकने के योग्य हों उन्हीं को करे। उनसे अधिक करने लगने पर पार न पहुंचे तो प्रतिज्ञा-भंग होने की संभावना है। कैसा आरम्भ करे सो कहते हैं—

अतिलाभ वाला अर्थात् विशिष्ट फल देने वाला और अल्प छेद वाला अर्थात् थोड़ी हानि वाला। अल्पशब्द अभाव वाचक गिनते संयम को जो बाधा कारक न हो, वैसा यह परमार्थ निकलता है। कौन ? सो कि- श्रुतसार विशारद अर्थात सिद्धान्त के तत्त्व का ज्ञाता सुयति अर्थात् भावसाधु।

ऐसा कैसे हो सकता है सो कहते हैं—

जह तं बहु पसाहइ निवडइ असंजमे दढं न जओ।
जणिउज्जमं बहूणं विसेसकिरियं तहाढवइ ॥११६॥

मूल का अर्थ-जिस प्रकार उसकी बहुत साधना कर सके और जिससे विशेष कर असंयम में न पड़ जाय तथा अन्य बहुत से मनुष्यों को उसमें प्रवृत्त कर सके, उस प्रकार विशेष क्रिया करे।

टीका का अर्थ-जैसे याने जिस प्रकार उसे अर्थात् शुरु करने का विचार किये हुए अनुष्ठान को दृढ़ता से अर्थात् खास करके बहुत साध सके याने बारम्बार कर सके और जिस अनुष्ठान से असंयम में अर्थात् सावद्य क्रिया में न पड़े—क्योंकि—अनुचित अनुष्ठान से कष्ट पावे तो पुनः उसके करने में उत्साहित न होवे। वैसे ही किसी समय दुःख उत्पन्न हो तो उसकी चिकित्सा कराने से

असंयम होता है और चिकित्सा न करावे तो अवधि पाकर मर जाने से संयम में अन्तराय होता है। इसीलिए कहा है कि—

वही तप करना कि-जिससे मन बुरा चिन्तवन न करे। जिससे इन्द्रियों को हानि न हो तथा जिससे योग (मन, वचन, काया के व्यापार) रुक न जावे। तथा दूसरे बहुत से समान-धार्मिक शिष्य उसे करने का मनोरथ कर सकें उस प्रकार, क्योंकि-शक्यानुष्ठान में बहुतों को करने की इच्छा होती है, किन्तु अशक्य में नहीं होती। तथाशब्द समुच्चयार्थ है। उसे इस भांति जोड़ना कि—और शक्ति होते विशेष क्रिया अर्थात् प्रतिमावहन की तुलना आदि भी करे, शक्ति को निष्फल न खोवे। विशेष क्रिया कैसी करे सो कहते हैं—

गुरु गच्छुन्नइहेउं कयतित्थपभावणं निरासंसो।
अज्जमहागिरिचरियं सुमरंतो कुणइ सक्किरियं ॥११७॥

मूल का अर्थ—आर्यमहागिरि का चरित्र स्मरण करके आशंसा रखे बिना गुरु और गच्छ की उन्नति करनेवाली और तीर्थ की प्रभावना बढ़ानेवाली सत्क्रिया करे।

टीका का अर्थ—गुरु और गच्छ की उन्नति अर्थात् धन्य है इन गुरु को अथवा गच्छ को कि—जिनके साथ में ऐसे दुष्करकारी दृष्टि में आते हैं। ऐसी लोक प्रशंसारूप उद्दीपना, उसकी कारणभूत, तथा तीर्थप्रभावना हो उस प्रकार अर्थात् जिनशासन का साधुवाद हो उस प्रकार—अर्थात् 'सर्व धर्मों में यह जिनधर्म अधिक सुन्दर है। मैं भी इसी को करूंगा"—इस भांति उसका आदेयत्व बढ़ानेवाला हो, सो प्रभावना है। निराशंस रहकर अर्थात् इस भव व परभव की आशंसा से अलग रह कर, क्योंकि कहा है कि—

इसलोक के हेतु अथवा परलोक के हेतु अथवा कीर्ति प्रशंसा वा यश के हेतु आचार नहीं पालना। बल्कि आर्हतिक (अरिहंत के कहे हुए अथवा योग्य) हेतुओं ही से आचार पालना चाहिये। आर्य महागिरि का चरित्र अर्थात् वृत्तान्त स्मरण करता हुआ भाव साधु सत्क्रिया करे, इस प्रकार गाथा का अक्षरार्थ है। भावार्थ तो कथानक पर से जानना चाहिये।

आर्यमहागिरि का चरित्र इस प्रकार है।

वीर प्रभु के शिष्य सुधर्मास्वामी हुए। जो कि-ज्ञेय पदार्थरूप समुद्र के पारगामी थे। उनके शिष्य जम्बूसूरि हुए। जो कि-श्रमण जनरूप पक्षियों को जामुन के वृक्ष समान आधारभूत थे। उनके शिष्य प्रभवसूरि हुए। वे गुणमणि की खानि थे। उनके शिष्य शय्यंभव थे। जो कि-संसारसमुद्र में प्रवहण समान थे। उनके पश्चात् अति निर्मल यशवाले यशोभद्रसूरि हुए। तत्पश्चात् भाव शत्रुओं से अपराभूत संभूतविजयसूरि हुए।

उनके बाद श्री भद्रबाहु स्वामी आचार्य हुए। वे कुमतरूप कुग्रह के प्रकाश को दबानेवाले महादेव के हास्य समान उज्जवल कीर्तिमान थे। उनके पश्चात् श्री स्थूलभद्र स्वामी आचार्य हुए। जो कि-त्रैलोक्य के लोगों को जीतनेवाले कामदेव के बल को दबाने वाले और युगप्रधान थे। उनके दो शिष्य थे:-आर्यमहागिरि और मोक्ष सुख के अर्थी आर्यसुहस्ति, वे श्रमणसंघ के शीर्षामलक (शिरोमणि) समान थे।

वे परस्पर प्रीतिवान्, चरणकरण के भार को उठानेवाले, भव्यजन रूप कुमुदों को बोधित करने के लिये पूर्ण चन्द्रमण्डल समान भक्ति से नमते हुए राजाओं के मणियुक्त मुकुटों से घिसाते हुए चरण वाले और युग-प्रवर गुणों से गरिष्ठ होकर चिरकाल तक

पृथ्वी में विचरते रहे। अब शिष्यों तथा प्रशिष्यों को भी विधि-पूर्वक सकल सूत्रार्थ सीखाने के अनन्तर आर्यमहागिरि ने अपना गच्छ सुहस्तिसूरि को सौंपा।

(पश्चात् उन्होंने विचार किया कि–)मनःपर्यव परमावधि, पुलाक, आहारक, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, त्रिसंयम केवलीपन और सिद्धि ये दश बातें जम्बूस्वामी के साथ विच्छिन्न हुई हैं। जिससे जिनकल्प को विच्छिन्न हुआ जानते हुए भी उसकी नकल करते हुए उस गच्छ की निश्रा में निर्मम होकर विचरने लगे। वे महात्मा उसी भांति विचरते हुए एक समय पाटलिपुर में आये। वहां सुहस्ति आचार्य ने वसुभूति सेठ को प्रतिबोधित किया था।

अब वह सेठ अपने स्वजन परिजन को अनेक हेतु–युक्ति से समझाने लगा किन्तु वह किसी को प्रतिबोधित नहीं कर सका। तब सोचने लगा कि–गुणवान का वचन घी और मधु से सींची हुई अग्नि के समान शोभता है और गुणहीन का वचन तेलविहीन दीपक के समान धुंधला रहता है। यह सोचकर उसने सुहस्ति-सूरि से विनंति करी कि–हे भगवन्। कृपाकर मेरे घर पधारिये और मेरे स्वजनों को प्रतिबोध दीजिए।

तब ज्ञाननिधि गुरु उनका महान् उपकार होता जान कति-पय परिवार के साथ वसुभूति के घर आये। वहां आकर उन्होंने उनका प्रतिबोध करने के हेतु विचित्र युक्तियों से धर्मकथा करना प्रारम्भ की। इतने में वहां आर्यमहागिरि भिक्षा के हेतु आ पहुँचे। उनको देखकर सुहस्तिसूरि शीघ्र खड़े हो गये। तो वे वापिस लौट गये। तब सेठ के मन में आश्चर्य होने से उसने कहा कि–भला क्या आप से भी बड़े मुनीश्वर हैं? कि–जिससे तुमने उनको देखकर इस प्रकार अभ्युत्थान किया? तब सुहस्ति बोले–

इन महामुनी के चरण की रज के समान भी हम नहीं हैं। क्योंकि-ये जिनकल्प विच्छेद हो जाने पर भी उसकी नकल करते रहते हैं। वह इस प्रकार कि-उपसर्ग और परीषह सहने में दृढ़ रहकर शुभध्यान में निश्चल रहते हैं। बहुत मल और पंक को धारण करते हैं। और उज्झित (फेंक देने योग्य) आहार पानी वापरते हैं। तथा अपने शरीर में भी मोह नहीं करते। अपने गच्छ में भी ममता रहित हैं. और सुनसान घर तथा श्मशान आदि एक स्थान में खड़े रहते हैं।

इत्यादि जिनकल्प सम्बन्धी परिकर्म करनेवाले उक्त महापुरुष के गुणों की प्रशंसा करके, और सेठ के स्वजन सम्बन्धियों को प्रतिबोध देकर सुहस्तिसूरि-उस सेठ के घर से निकले, तो सेठ अपने परिजन को कहने लगा कि-इस प्रकार का साधु जो किसी भांति भिक्षा के लिये यहां आवे तो भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार पानी उज्झित करके तुमने उक्त दुष्करकारी मुनि को किसी भी प्रकार वहोराना चाहिये। क्योंकि-उनको दिया हुआ महान फल देगा। इस प्रकार सेठ के जता देने के बाद एक वक्त महागिरी सूरि भिक्षा के लिये आये।

तब वसुभूति की दी हुई शिक्षा के अनुसार उसके परिजनों को उज्झित आहार पानी से दान देने को उद्यत देख सागर के समान महा सत्ववान् महागिरि द्रव्यादिक में उपयोग रखकर उसे अनेषणीय जानकर भिक्षा लिये विना ही यहां से लौट गये। उन्होंने सुहस्ति को कहा कि-अनेषणा करी न? तब वे बोले कि-हे स्वामिन्! किसने करी? महागिरी ने कहा-तुमने मुझे आता देख खड़े होकर करी। इसलिये यहां एषणा नहीं सूझेगी। यह विचार कर वे दोनों वैदिशीपुरी में आये। वहां अजितनाथ की

भला, क्या धर्म करते हुए भी कोई असदारंभ होता है ?

उत्तर—हां, होता ही है, मतिमोह तथा अहंकार की बुद्धि के कारण।

किस प्रकार और किसके समान ? ऐसी शंका के लिए जवाब कहते हैं—

जो गुरुमवमन्नंतो आरंभइ किर असक्कमवि किंचि।
सिवभूइ व्व न एसो सम्मारंभो महामोहो ॥ ११९ ॥

मूल का अर्थ—जो कोई गुरु की अवज्ञा करके, जो अशक्य को भी करने लगे, वह शिवभूति के समान सम्यक् आरंभ वाला नहीं माना जाता क्योंकि-वैसा करना महामोह है।

टीका का अर्थ—जो कोई मंदमति गुरु को अर्थात् धर्माचार्य को हलका गिनता हुआ याने यह तो हीनाचारी है। इस प्रकार अवज्ञा से उनकी तरफ देखता हुआ काल और संघयण का अनुसरण नहीं करता और उसीसे गुरु के न कराते जिनकल्पादिक अशक्य काम को भी करने लगता है, न कि शक्य को। वह दिगम्बर शिवभूति के समान सम्यक् आरम्भवाला अर्थात् सत्प्रवृत्तिवाला नहीं माना जाता। कारण कि-ऐसा करना महामोह है। मतलब यह है कि-अकृतज्ञता और अज्ञान के जोर बिना कोई भी मनुष्य परम उपकारी गुरु की छाया से पृथक नहीं होता, यह गाथा का अक्षरार्थ है। भावार्थ कथानक से ज्ञात होगा।

शिवभूति की कथा इस प्रकार है-

रथवीरपुर में सिंहरथ नामक राजा था। उसका साहसिक बलवान और माननीय शिवभूति नामक एक पदाति (पैदल सेना

नायक था। उसके शूरवीर होने के कारण उसे मथुरा के राजा को पकड़ने का हुक्म दिया गया। तब वह सामन्त और मन्त्रियों के साथ रवाना हुआ। तब प्रथम प्रयाण होने पर सामन्त आदि सब को सन्देह हुआ कि—उत्तर और दक्षिण मथुरा में से कौनसी मथुरा लेने का हुक्म है? और यदि फिर से पूछा जाय तो निश्चय राजा कुपित होगा। इसलिये इस विषय में क्या करना चाहिये? इस प्रकार वे चिन्तातुर हो गये। तब शिवभूति ने उनको कहा कि—अरे भाइयों! चिन्ता क्यों करते हो? किसी भी उपाय से हम दोनों मथुरा लेंगे। लड़के बलवान् हों उसमें कभी भी कोई दोष नहीं माना जाता।

शिवभूति यह कहता है कि—एक तरफ मैं अकेला जाता हूँ और एक तरफ तुम सब जाओ। जो मुश्किल से पकड़ा जाय उसे मैं पकड़ता हूँ और दूसरे को तुम पकड़ो। तब इन्होंके इसमें सहमत होने पर प्रचण्ड शिवभूति ने जाकर सहसा दक्षिण मथुरा के स्वामी को पकड़ा और दूसरों ने उत्तर मथुरा के स्वामी को पकड़ा। पश्चात् उन्होंने रथवीरपुर में आकर उसी समय राजा को बधाई दी। तब शिवभूति के साहस से राजा प्रसन्न होकर कहने लगा कि—हे महाबल सुभट! तुझे जो चाहिये सो स्पष्टतः मांग।

शिवभूति ने कहा कि—हे देव! जो आप सचमुच प्रसन्न हुए हो, तो मुझे इस नगर में रात्रि अथवा दिन चाहे जहां फिरने की आज्ञा दीजिए। राजा ने उसे मंजूर किया। इसलिये शिवभूति अब निर्भय होकर घूमने लगा। वह समय और असमय को न गिनकर घूमा करता था और चौकीदारों से भी रुक नहीं सकता था।

वह अपने घर कभी मध्यरात्रि को आता, कभी उससे जल्दी या देर से आता। इसके लिये उसकी स्त्री उसके आने की राह

देखती बैठी रहती थी। वह नाराज होकर सासु से कहने लगी कि-यह तुम्हारा लड़का देर से आता है और मैं जग-जगकर थक जाती हूं। तब वह सासु सोचने लगी कि राजा यद्यपि खुश हुआ है तो भी यह उच्छृंखल हो, यह ठीक नहीं। इसलिये मुझे शिक्षा देना चाहिये। अतः वह कहने लगी कि-बहू! तूं सो जा। आज मैं ही जगती रहूँगी। यह कह द्वार बन्द कर सासु जगने लगी और बहू सो गई।

अब वह मध्यरात्रि के समय आकर दरवाजा खोलने लगा। तब उसकी मां क्रोध में आकर कहने लगी कि-हे लड़के! इतनी रात को जहां तुझे खुला दरवाजा दिखाई दे वहां चला जा। यहां कोई जागता नहीं। इस प्रकार माता का वचन सुनकर उसके मन में गर्व हो आया, और उसे साधु के उपाश्रय का द्वार नित्य खुला रहता हुआ याद आया, इसलिये वहां गया। वहां उसने भय से रहित और निःसंग जितकषाय आर्यकृष्णसूरि को मधुर-स्वर से स्वाध्याय करते देखा।

उसने सोचा कि-इन महात्मा को धन्य हैं। और ये ही कृतार्थ हैं। क्योंकि-इन्हें मान व अपमान का कुछ भी दुःख नहीं होता। ऐसा सोचकर वह जमीन से माथा टेक कर, आचार्य को वन्दना करने लगा। पश्चात् वह बोला कि-हे भगवन्! मैं संसार में भ्रमण करने से डरकर आपके पास आया हूँ। इसलिये हे प्रभो! मुझे दीक्षा देकर मुझ पर मेहरबानी करो।

गुरु बोले कि-तूं कौन है? और क्यों प्रव्रज्या लेता है? वह बोला कि-मैं इस नगर के राजा का शिवभूति नामक सेवक हूँ, और मैंने संसार से वैराग्य पाया है। गुरु ने कहा कि-तब मैं राजा की आज्ञा के बिना दीक्षा कैसे दूं? तब वह बोला कि-मैं आपके सन्मुख खड़ा होकर आप ही दीक्षा ले लूँगा। यह कह कर

वह अपना लोच करने लगा। तब गुरु ने अनवस्था दोष से डर कर उसे दीक्षित किया। पश्चात् बलवान् होने से राजा उसकी प्रव्रज्या छुड़ावेगा। इस प्रकार शंका करके वे यहां से रवाना होकर देशांतर में आ पहुँचे।

बहुत काल पश्चात् राजा ने उसे भक्तिपूर्वक बुलाया। तब कृष्णाचार्य के साथ शिवभूति उस नगर में आया। तब राजा ने उसके दर्शन करने के हेतु उसे अपने महल में बुलाया और उसे सुन्दर रत्न कंबल देकर सम्मानित किया। उसने वह अपने गुरु को बताया। तब वे बोले कि–यह महा मूल्यवान् क्योंकर लिया? तब उसने कहा कि–राजा की दाक्षिण्यता से लिया है। तब गुरु ने उस कम्बल को उसे ही दे दिया, पर वह उस पर मुग्ध होकर उसे काम में न लाते सम्हालने लगा। यह जानकर उसका मोह तोड़ने के लिये एक समय जब कि वह बहिर्भूमि को गया था तब गुरु ने उसके निषद्या बना डाले, जिससे शिवभूति के मन में किंचित् अप्रीतिक (द्वेषभाव) उत्पन्न हुआ।

तब एक समय गुरु ने नीचे लिखे अनुसार जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के लिये शास्त्र प्रसिद्ध उपधि का विचार चलाना शुरू किया। जिनकल्पी को बारह उपकरण होते हैं। स्थविरकल्पी को चौदह होते हैं और आर्याओं को पच्चीस होते हैं। इससे विशेष औपग्राहिक उपकरण हैं। जिनकल्प में दो, तीन, चार, पांच, नव, दस, ग्यारह और बारह उपकरण। इस प्रकार उपकरण के विषय में आठ विकल्प हैं।

दो उपकरण मुंहपत्ति और रजोहरण और उसमें एक कल्प मिलाते तीन और दो कल्प (ओढ़ने का वस्त्र) मिलाते चार होते हैं। तीन कल्प मिलाते पांच होते हैं। इन प्रत्येक के साथ

सात पात्र के उपकरण जोड़ते क्रमशः नव, दस, ग्यारह और बारह उपकरण होते हैं। किन्तु ये जिन-कल्प केवल उत्सर्गमय होने से मंद-सत्त्व जीवों को दुष्कर हैं व उत्तम सत्त्ववान जीवों को सुखकर हैं और वही उत्तम है।

यह सुनकर शिवभूति बोला कि- जो यह कल्प उत्तम है तो परलोक साधन के हेतु बद्धकक्ष (कमर बांधकर तैयार हुए) पुरुषों को करना ही चाहिये। अतएव मोक्ष सुख के अर्थी साधु जिनेश्वर के न किये हुए वस्त्र-पात्रादि संग्रह को छोड़कर यह जिन-कल्प क्यों नहीं करते ? तथा जो गुरु का लिंग हो वही उनके शिष्य ने भी रखना चाहिये। क्योंकि-लोक में भी प्रत्येक लिंगी अपने-अपने देव के अनुरूप लिंग रखता है।

गुरु उत्तर देने लगे कि-तीर्थंकरों की की हुई क्रिया अपने समान पुरुष कैसे कर सकते हैं ? क्या हाथी की पालकी को गधा उठा सकता है ? वे क्रियाएँ तो पहिले संघयण वाले महासत्त्वशाम् जीव ही कर सकते हैं। अपन तो उनकी प्रशंसा मात्र कर सकते हैं। प्राकृत पुरुष (साधारण मनुष्य) क्या तीर्थंकर की नकल कर सकता है ? क्या गर्ताकोल सिंह और हाथी की समानता पा सकता है ?

आज्ञा में चलना यही प्रभु की मुख्य आराधना है। क्योंकि-कोई भी राजचिह्न धारण करके राजा की सेवा नहीं करता। वीर प्रभु ने पांच प्रकार के कल्प कहे हैं। उनमें से जो योग्य हो, उसको यथाशक्ति करने से उनकी आज्ञा की आराधना की जा सकती है। पहिला स्थविर कल्प, दूसरा परिहारविशुद्धि कल्प, तीसरा जिनकल्प, चौथा प्रतिमाकल्प और पांचवा यथालंद कल्प।

उसमें इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवस्सिया, निसिही, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदना, निमंत्रणा, और उपसंपदा ऐसी दशविध सामाचारी का नित्य पालन करना, मासकल्प विहार करना, सदैव गुरुकुल में रहना, इत्यादि शुद्धक्रिया करना, सो स्थविरकल्प है। अब परिहारविशुद्धि कल्प जिनेश्वर ने इस प्रकार कहा है।

ग्रीष्म, शिशिर और वर्षाकाल में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से एक उपवास से लेकर पांच उपवास पर्यंत परिहार कल्पवाले का तप है। परिहार तप वाले नित्य पारणे में आंबिल करते हैं और संसृष्टादिक सात भिक्षा होती हैं। उनमें की अन्तिम पांच ग्रहण करते हैं और प्रथम दो का त्याग करते हैं। यह चार परिहारिक का तप जानो, और दूसरे जो कल्पस्थितादिक पांच हैं, उनमें वाचनाचार्य तथा चार अनुचारी हैं, ये सब नित्य आंबिल करते हैं। इस प्रकार छः मास तक तप करके परिहारिक अनुचारि होते हैं और अनुपरिहारिक–अनुचारिक होवे, वह परिहारिक पद में छः मास तक आवे।

इस प्रकार बारह मास बीतने पर कल्पस्थित वाचनाचार्य भी पूर्वोक्त न्याय से छः मास तक परिहारिक तप करे और बाकी के आठ अनुपरिहारिकपन तथा कल्पस्थितपन को धारण करते हैं। अर्थात् सात वैयावृत्यकर होते हैं। और एक वाचनाचार्य होता है। अठारह मास का परिहारविशुद्धिक तप है। उसे जन्म से तीस वर्ष का हो वह, तथा पर्याय से उन्नीस वर्ष का हो वह स्वीकार करता है और कल्प समाप्त होने पर वह जिनकल्पि होता है। अथवा पीछा गच्छ में आता है और इसके करने वाले स्वयं जिनेश्वर से उसे अंगीकार करते हैं। अथवा तो

जिन के पास से जिसने लिया हो उसी से अंगीकार किया जाता है। वह परिहारविशुद्ध-चारित्र प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में होता है।

जिनकल्पि दो प्रकार के हैं:—पाणिपात्र और पात्रधारी। उन प्रत्येक के पुन: दो भेद हैं, प्रावरणी और अप्रावरणी। जिनकल्प अंगीकार करते पांच प्रकार की तुलना की जाती है। यथा—तप से, सूत्र से, सत्त्व से, एकत्व से और बल से। उनमें तपसे तो छ: मासी तप करे। सूत्र से उत्कृष्ट रीति से कुछ कम दश पूर्व और जघन्य से आठ पूर्व और नवमें की तीन वस्तु जाने।

सत्त्व से सिंहादिक के भय से रहित रहे। एकत्व से दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखे और बल से पहिले तीन संघयण में प्रवर्तमान हो वह जिनकल्प को योग्य होता है। जिनकल्पि साधु एक वसति में उत्कृष्ट से सात रहते हैं परन्तु उससे अधिक कभी भी नहीं रहते।

साधु की बारह प्रतिमा इस प्रकार हैं:—प्रथम सात मासादि है। आठवीं, नवमी और दसवीं सात अहोरात्र की हैं। ग्यारहवीं एक अहोरात्र की और बारहवीं एक रात की है। इनको संघयण और धैर्यवाला भावितात्मा महासत्त्व होता है वह भलीभांति गुरु की अनुज्ञा लेकर स्वीकार करता है। वह जब तक दस पूर्व नहीं हुए हों तब तक गच्छ में निर्मोयी होकर रहे, उसे जघन्य से नव में पूर्व की तृतीय वस्तु इतना श्रुतज्ञान होता है।

वह शरीर का ममत्व छोड़ जिनकल्पि के समान उपसर्ग सहता है। उसकी एषणा अभिग्रहवाली होती है और उसका अलेपकृत भक्त होता है।

गच्छ से निकलकर मासिकी महाप्रतिमा को धारण करे। वहां भोजन की एक दत्ती तथा पानक को भी एक ही दत्ती होती है। और जहां सूर्य अस्त हो उस स्थान से एक पग भी आगे नहीं बढ़े। जिस स्थान में वह प्रतिमा प्रतिपन्न है ऐसी खबर हो जाय, वहां एक रात रहे, और खबर न पड़े, वहां एक दिन व दो रात रहे।

दुष्ट हाथी वगैरे के भय से एक कदम भी पीछे न हटे इत्यादि नियम को सेवन करता हुआ सारे मास विचरण करे। पीछे गच्छ में आता है। इस प्रकार द्विमासी, त्रिमासी, इस प्रकार सात मासी तक की सात जानो। उसके साथ दत्ती भी बढ़ती जानना। यहां तक कि—सातवीं में सात दत्ती हों, पश्चात् आठवीं अथवा यहां के हिसाब से पहिली प्रतिमा सात अहो रात की होती है—उसमें चोथभक्त का तप चतुर्थी को तप चौविहार एकांतरी होता है, तथा पूर्वोक्त प्रतिमाओं से यह विशेषता है कि—पारणे में आंविल करे। उसमें उर्ध्व मुख और करवट करके सोना अथवा निषद्या के स्थान में रहकर दिव्यादिक घोर उपसर्गों को निष्कम्प मन से सहते हैं।

दूसरी प्रतिमा भी इसी प्रकार परन्तु वह गाँव के वाहिर उत्कुट्टक आसन से रहे अथवा टेढ़े लक्कड़ के समान सोया रहे अथवा दंड के समान लम्बा होकर पड़ा रहे अथवा खड़ा रहे।

तीसरी भी इसी प्रकार है पर स्थान में वह गोदोहिकासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन होती है इसी प्रकार अहोरात्रि की प्रतिमा भी जानो। उसमें अपानकं चौविहार छट्ठ-भक्त होता है और ग्राम नगर के वाहिर दोनों भुजाएँ लम्बी होती है जिसमें ऐसा आसन में रहता है। ऐसी ही एक रात्रि की प्रतिमा

भी जानो । उसमें अट्ठम-भक्त-तप होता है, और बाहिर ईषत्प्राग्भारपृथ्वी में आँख की पलक मारे बिना एक दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रहे ।

लंद याने काल, वह उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य इस प्रकार तीन भेद हैं । जघन्य काल याने भींगा हुआ हाथ सूखे उतना समय जानो । उत्कृष्ट काल अर्थात् करोड़ पूर्व जानो । मध्यम के अनेक स्थान होते हैं । अब यहां उत्कृष्ट यथालंदत्व पांच अहो रात्रि का कहा है । क्योंकि-पांच रात दिवस तक एक बीथी में भिक्षा के लिए फिरते हैं, उससे वह यथालंद कहलाता है । वे गच्छ में उत्कृष्ट से पांच ही होते हैं । जो मर्यादा जिनकल्प में है वही मर्यादा यथालंदकल्प वाले की जानो । केवल सूत्र में भिक्षा में और मासकल्प में अन्तर होता है ।

गच्छ में अप्रतिबद्ध यथालंदों की मर्यादा भी जिनकल्पि के समान ही है । केवल काल में विशेषता है वह यह कि-ऋतुवास पाँच होते हैं और चातुर्मास होता है । गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिओं में यह विशेषता है कि-जो उनका अवग्रह होता है वह आचार्यों का भी गिना जाता है । वे एक उपाश्रय में पांच रहे हों तो गांव के छः भाग करें और नियम से प्रतिदिन भिन्न भिन्न भाग में भिक्षा को जावे ।

प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध के इन प्रत्येक के पुनः दो भेद हैं—जिनकल्पि और स्थविरकल्पि । अर्धश्रुत देश से असमाप्त हो वहां तक गच्छ का प्रतिबंध जानो । वहां लग्न आदि पुनः लम्बे आते हों तो वे यथालंदकल्प को तुरत ही ग्रहण करके क्षेत्र के बाहिर रहें । नहीं लिया हुआ श्रुत हो उसे ग्रहण करें । वह इस प्रकार कि-वहां आचार्य जाकर उसे पद दे आवें, तथा वे क्षेत्र में आवें

तो यह दोष लगता है कि-वंदन करने वाले को प्रतिवंदन (अनुवंदन) न करे तो लोक में निन्दा होती है।

जो आचार्य न आ सके तो वह यथालंद ही मध्यभाग की पल्ली में पड़ौस में, वा गांव के बाहर दूसरी वसति में आवे। उस वसति के अपरिभोग में, वे वंदना करे पर यथालंदिक वंदना न करे। इस प्रकार श्रुत ग्रहण करके फिर वे अप्रतिबद्ध होकर इच्छानुसार विचरण करें। वे जिनकल्पी हों तो कोई भी चिकित्सा करावें नहीं। शरीर का कुछ भी प्रतिकर्म न करें, और आंख का मल भी न उतारें। स्थविरकल्पी होवें तो यह विशेषता है कि-न सह सकने वाले को गच्छ में सौंपते हैं और वे गच्छ वाले उसको प्रासुक उपायों से समस्त चिकित्सा करते हैं।

स्थविर (यथालंदिक) कल्पी होवें, तो एक एक पात्रवाले हों और प्रावरण वाले होते हैं और जो इनमें (यथालंदिक) जिनकल्पी हों, उनके वस्त्र पात्र में भजना होती है। गण के मान से जघन्य से तीन गण हों, उत्कृष्ट से सौ पृथक्त्व है, पुरुष के प्रमाण से जघन्य से पन्द्रह और उत्कृष्ट से हजार पृथक्त्व होते हैं। प्रतिपद्यमान के हिसाब से कम से कम जघन्य से एक हो, और उत्कृष्ट से सैकड़ों हों। पूर्वप्रतिपन्न यथालंद मुनि जघन्य और उत्कृष्ट से दो करोड़ से नव करोड़ तक हों।

इस तरह पाँच प्रकार के कल्प वाले मुनि अन्योन्य अनिंदक और दूसरे के उत्कर्ष की विशुचिका से रहित साधुजनों में प्रधान गिने जाते हैं। जिससे कहा है कि-जो दो वस्त्र रखते हैं, तीन रखते हैं, एक रखते हैं या वस्त्र बिना ही निभाते हैं, वे एक दूसरे को दोष नहीं देते, क्योंकि-वे सब जिनाज्ञा का अनुसरण करके वर्ताव करते हैं।

इसमें स्थविरकल्प है, सो नित्य हैं, क्योंकि-इसमें तैयार होकर शेष कल्पों के योग्य होते हैं। उसमें तीर्थ भी इसके द्वारा ही चलता है। आज कल के दुर्बल संघयण वाले पुरुषों को यही कल्प उचित है। इसलिये इसमें उद्युक्त रहना चाहिये।

इस प्रकार आचार्य के अनेक उपायों से समझाने पर भी, गाढ़ अभिमान के वश में होकर इस तरह जवाब देने लगा कि-तुम मंदसत्व वाले, और सुख-लंपट होकर के जो कि उद्यम नहीं करते। भला मैं सामर्थ्यवान् होते हुए किस लिये प्रमादशील होउं? इस प्रकार बोलता हुआ, और अलग होकर नाना प्रकार से मना करने पर भी नग्नभाव से शिवभूति शीघ्र रवाना हुआ।

उसकी उत्तरा नामक छोटी बहिन थी। वह उसके स्नेह से प्रव्रजित हुई थी। उसे जाता देखकर सोचने लगी कि-मेरे भाई को ठीक परलोक सुधारने का इस प्रकार अच्छा उपाय मिला जान पड़ता है। ऐसा सोचकर वह भी उसीके समान नग्न होकर उसके पीछे चली। तब वह लज्जा करती है, ऐसा सोचकर वेश्या ने उसके ऊपर साड़ी डाली। उसकी अनिच्छा देखकर भाई ने कहा कि-हे सुतनु! देवता की दी हुई इस एक साड़ी को तूं मत छोड़। इस प्रकार उसकी आर्याएँ एक साड़ी वाली हुई।

इस प्रकार मोह से अंध हुआ शिवभूति कष्टानुष्ठान आरंभ करके मिथ्यादृष्टि तथा दुर्गति और दुर्भाग्य का भागी हुआ।

जिससे आगम में भी कहा है कि—बोटिक मत शिवभूति, और उतरा का अपनी उहा (मति कल्पित विचारणा) से प्ररूपित यह मिथ्यादर्शन रथवीरपुर में पहिला उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार अशक्यानुष्ठान में दुर्मति शिवभूति बहुत प्रवृत्ति करके दुखी हुआ। इस प्रकार भली भांति जानकर के आग्रह को झट छोड़कर हमेशा हे निर्मल बुद्धिवान् यतिओं ! तुम यह शक्यारंभ करते रहो।

इस प्रकार शिवभूति की कथा पूर्ण हुई।

शिवभूति को महा मूढ़ इसलिये जानना कि- वह गुरु में अवज्ञा बुद्धि रखकर निज को ऊँचा बताने को प्रवृत्त हुआ। गुरु की आज्ञा से शासन की उन्नति करने वाले और लब्धि वा ख्याति की अपेक्षा न रखने वाले साधु का अधिक तप कर्म तथा आतापनादिक का करना सो वीर्याचार की आराधना रूप हो कर लाभकारक ही होता है।

इस प्रकार शक्यानुष्ठानारंभ रूप भावसाधु का पांचवाँ लिंग कहा। अब गुणानुराग रूप छठवां लिग कहते हैं—

जायइ गुणेसु रागो सुद्धचरित्तस्स नियमओ पवरो ।
परिहरइ तओ दोसो गुणगणमालिन्नसजणए ॥१२०॥

मूल का अर्थ—शुद्ध चारित्र वाले के गुणों में निश्चयतः प्रवर राग होता है। जिससे वह गुणों को मलीन करने वाले दोषों को त्याग करता है।

टीका का अर्थ—गुणों में याने पाँच महाव्रत, दसविध यति-धर्म, सत्रह संयम, दसविध वैयावच्च, नवविध ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बारह प्रकार का तप, चार क्रोधादिक कषाय का निग्रह इस प्रकार की चरण सत्तरी है। तथा चार प्रकार की पिंड विशुद्धि, पांच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पांच इन्द्रियों का निरोध, पच्चीस पडिलेहणा, तीन गुप्ति और चार जाति के अभिग्रह यह करणसत्तरी है। आगम में वर्णन किये हुए

मूल गुण और उत्तर गुणों में राग याने प्रतिबंध (प्रीति) इस प्रकार शुद्ध चारित्र वाले कलंक रहित संयम वाले पुरुष को निश्चयतः प्रवर अर्थात् प्रधान होता है, न कि मिथ्याराग होता है। उक्त गुणानुराग से भावसाधु ज्ञानादिक गुणों को मलीन करने वाले दोषों को अर्थात् दुष्ट व्यापारों को परिहरता है याने नहीं करता है।

गुणानुराग का ही लिङ्ग बताते हैं—

गुणलेसंपि पसंसइ गुरुगुणवुद्धीइ परगयं एसो।
दोसलवेणवि नियंयं गुणनिवहं निग्गुणं गणइ॥१२१॥

मूल का अर्थ—दूसरे में रहे हुए लेशमात्र गुण को भी महान् गुण की बुद्धि से वे प्रशंसा करते हैं और लव के समान दोष से वे निज के गुणों को निर्गुण मानते हैं।

टीका का अर्थ—यह अर्थात् भावसाधु, परगत अर्थात् दूसरों के गुण, लेश मात्र को भी, महान् गुण तो दूर रहा प्रशंसता है अर्थात् बखानता है। सारांश यह कि—वह उत्तम स्वभाव वाला होने से बड़े-बड़े दोषों को छोड़कर, दूसरों के थोड़े गुण को भी देख सकता है। काले कुत्ते के सड़े हुए शरीर में श्वेत दांतों की पंक्ति की प्रशंसा करने वाले श्रीकृष्ण के समान तथा वह दोष के लव से भी अर्थात् प्रमादवश हुई थोड़ी-सी भूल से भी अपने गुणसमूह को निर्गुण अर्थात् असार मानता है अर्थात् कि—मैं कैसा प्रमाद-शील हूँ। ऐसी भावना से अपने आपको धिक्कारता है। कान पर रखे हुए सौंठ के टुकड़े को भूल जाने वाले अन्तिम पूर्वधर श्री वज्रस्वामी के समान।

पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) का चरित्र इस प्रकार है—

सोरठ देश में द्वारवती नामक मनोहर नगरी है। जो कि—स्वर्ण और मणिमय मन्दिर तथा कोट वाली है और कुबेर (धनद)

की बनाई हुई है। वहां हरिकुल (यादववंश) रूप नभस्तल में चन्द्रमा समान और दुश्मनों के मद को उतारने वाला मधु-मथन (श्रीकृष्ण) नामक दक्षिण भरतार्द्ध का राजा था।

वहां एक समय अत्यन्त तीव्र घाति कर्म को तोड़ने वाले और दुरित रूप झाड़ को काटने में कुठार की धार समान अरिष्टनेमि भगवान पधारे। वे श्री रैवतगिरि के ऊपर स्थित नन्दन नाम के रमणीय उद्यान में देवों के रचे हुए समवसरण में देशना देने के लिए विराजमान हुए। तब खबर देने वाले मनुष्य से जिनेश्वर पधारे हैं, ऐसा सुनकर हर्षित होकर भरतार्द्धपति उन्हें वन्दन करने को रवाना होने लगे।

उनके साथ में समुद्रविजय वगैरा दशदशार्ह, उसमें ही बलदेव आदि पांच महावीर (बड़े बलवान) रवाना हुए और उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा तथा वीरसेन आदि इक्कीस हजार शूरवीर सुभट रवाना हुए। उनमें सांब आदि साठ हजार दुर्दांत (बेपरवाह) कुमार तथा प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार रवाना हुए और महासेन आदि छप्पन्न हजार बलवान् तथा दूसरे अनेक सेठ-साहुकार आदि नागरिक लोग रवाना हुए।

इतने में सौधर्म-इन्द्र ने अवधिज्ञान से विष्णु का मन जान कर बहुत हर्षित होकर सभा में अपने देवों से कहने लगा कि- यह महाभाग वासुदेव दूसरे के लव समान गुण को भी बड़े गुण की बुद्धि से देखता है। तब एक देवता ने विचारा कि- बालकों के समान प्रभु (बड़े) भी ऐसे वैसे बोलते हैं। ऐसा सोचकर उसकी परीक्षा करने को वह यहां आया।

उसने समवसरण में जाने के मार्ग में अति दुर्गन्धि युक्त, खुले हुए दांत वाला मृतक कुत्ता रचा। उसकी दुर्गन्ध से घबराकर सर्व

सेना बाजू से तथा मुँह और नाक ढककर चलने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण तो उसी मार्ग पर चलकर दूसरे के लेशमात्र गुण को भी ग्रहण करने में लालायित होने से इस प्रकार कहने लगे कि— इस काले कुत्ते के मुँह में सफेद दांत की पंक्ति मरकत मणि के थाल में मोतियों की माला पड़ी हो, ऐसी शोभा दे रही है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का चरित्र (आचरण) देखकर उस देव ने ' सत्पुरुष कदापि दोष नहीं बोलते "। इस प्रकार इन्द्र के कहे वचन पर विश्वास आने से उसने अपना रूप प्रगट किया। तद्पश्चात् दूसरे के गुण को ग्रहण करने में तत्पर श्रीकृष्ण को बहुत मान पूर्वक बखान कर तथा अशिव का उपशमन करने वाली भेरी उसे देकर वह देवता स्वर्ग को पहुँचा। तद्पश्चात् श्रीकृष्ण समवसरण में आकर विधिपूर्वक जिन को नमन करके उचित स्थान पर बैठे। तब भगवान ने इस प्रकार धर्म – कथा कहना आरम्भ की —

हे भव्यो ! इस संसार रूप अटवी में दुर्लभ सम्यक्त्व को जैसे–तैसे प्राप्त करके उसकी विशुद्धि के लिये होते हुए गुणों की प्रशंसा करो। जिस प्रकार सर्व तत्त्वों में अरुचि सम्यक्त्व को नाश करने वाली है। उसी प्रकार होते हुए गुणों की प्रशंसा नहीं करना, वह उसमें अतिचार लगाने वाली है। जो जीवों में होते हुए गुणों की भी प्रशंसा नहीं की जाय तो फिर बहुत क्लेश से साध्य गुणों में कौन आदर करेगा ? इसलिये ज्ञानादिक के विषय में जहां जितना गुणांश दिखाई दे उसे सम्यक्त्व का अंग मानकर उसकी भी प्रशंसा करना चाहिये। कारण कि–जो मत्सर से अथवा प्रमाद के वश से होते हुए गुणों की भी प्रशंसा नहीं करे, वह भवदेवसूरि के समान दुःख को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण ने पूछा कि- भगवन् ! भवदेव नामक कौन आचार्य थे ? भगवान बोले कि-इस भारत में पूर्वकाल में भवदेव नामक आचार्य था। वह बुद्धि से तो बृहस्पति के समान था, परन्तु चारित्र में किंचित् ढीले मन वाला था । उसके एक बन्धुदत्त नामक शिष्य था। वह निर्मल चारित्रवान्, सूक्ष्मबुद्धि वाला, वादलब्धिसंपन्न तर्क तथा आगम में कुशल, मत्सर रहित और विनीत था। इससे उसके पास जिनसमय के ज्ञाता श्रमण तथा शास्त्र में कुशल श्रावक विनय पूर्वक हाथ जोड़कर उपयोग पूर्वक जिनागम सुनते थे और उसे तद्दांत्त करके मानते थे तथा उसे चारित्रवान् समझ कर उसका बहुत मान करते थे ।

तब भवदेवसूरि मत्सर से परिपूर्ण होकर हृदय में सोचने लगे कि- मुझे छोड़कर ये मुग्ध लोग इसकी सेवा क्यों करते हैं ? अथवा ये मुनि और श्रावक तो भोले हैं, इससे चाहे जो करें, परन्तु यह चेला मेरा दीक्षित होकर ऐसा क्यों करता है ? मैंने ही इसे बहुश्रुत किया है और मैंने ही इसे महान् गुणों में स्थापित किया है। मेरे होते भी मुझे न गिनकर इस प्रकार अलग पर्षदा भरता है।

" राजा के जीते-जी उसके छत्र का भंग न हो " इस कहावत को भी मैं सोचता हूँ कि- इस अनार्य ने सुनी नहीं।

अब जो मैं इसको धर्मकथा करने से रोकता हूँ तो ये मुग्ध लोग मुझे मत्सरी मान बैठेंगे। अतः इस मूर्ख शिष्य की ओर मुझे अभी उपेक्षा ही करना उचित है। यह सोचकर आचार्य ने मत्सर से भरे रहकर कुछ दिन व्यतीत किये।

इतने में पाटलीपुत्र नगर से संघ की आज्ञा से इनके पास एक मुनियो का संघ आया। तब मुनियों ने खड़े होकर उसे नान

दिया। अब उक्त संघ ने उक्त आचार्य तथा मुनियों का सकल यथोचित संपादन कर इस प्रकार संघ का आदेश कहा कि—

वहां प्रज्ञा से बृहस्पति को भी नीचा दिखाने वाला विदुर नामक अव्यक्त लिङ्गी छः दर्शन को तोड़कर यथेच्छ रूप से चिर-काल से विचरता रहा है।

वह इस प्रकार कि- उसने कणाद के मत को मानने वालों का मान उतार दिया है। गौतम के मत को मानने वालों में बहुतों को बुद्धि बल में हीन कर दिया है। बौद्धों को तर्क के विचार से अलग कर दिया है। सांख्यों को संख्याहीन बनाया है। कौलों को निर्बल कर दिया है तथा मीमांसकों के यश को तोड़कर व्यंसक-बनाया है। इस प्रकार हाथी की तरह वह निःशंक हो गर्व से सर्वत्र फिरता रहता था। किन्तु अब वह दुष्ट जैन मुनियों से विवाद करना चाहता है। अतः यह जैन दर्शन का कार्य करने को आप शीघ्र वहां पधारिये।

यह सुन वे (आचार्य) प्रवचन की प्रभावना करने के लिए पाटलीपुत्र की ओर रवाना हुए, इतने में उनके सन्मुख छींक हुई। (छींक के लिए ऐसा कथन है कि-) बाई छींक क्षेमकारक है। दाहिनी भी लाभदायक है। पीठ पर हो तो पीछा लौटाती है और सन्मुख हो तो वह निश्चित किये काम को बिगाड़ती है।

यह सोचकर आचार्य विहार करते झट रुक गये। तब उक्त आगन्तुक संघ ने कहा कि- जो शकुन ठीक न होने से आप वहां न पधार सकते हों तो वादलब्धिसम्पन्न बन्धुदत्त साधु को वहां भेजिये।

तब आचार्य ने खूब विचार करके उसे वहां भेजा। अब उसे शुभ शकुन हुए जिससे वह बढ़ते हुए उत्साह के साथ थोड़े दिन

में वहां आ पहुँचा। उसने वहां राजा से भेट की। पश्चात् दोनों जनों ने ऐसी प्रतिज्ञा की कि- जो हारे वह जीतने वाले का शिष्य हो। तदनन्तर बन्धुदत्त मुनि ने स्याद्वाद से विशुद्ध हुई बुद्धि के बल द्वारा बहुत वचनों के विस्तार से विदुर को वाद में जीत लिया।

बन्धुदत्त को विजय पत्र मिला और उसी समय विदुर को दीक्षा दी गई। तब विकसित मुख-कमल से समस्त संघ उसकी प्रशंसा करने लगा। पश्चात् वह विदुर शिष्य को साथ लेकर पद-पद पर बहुजनों से प्रशंसित होता हुआ अपने गुरु के पास आया, किन्तु गुरु ने मत्सर वश उसकी लेश-मात्र भी प्रशंसा नहीं की और उसकी तरफ स्नेह पूर्वक दृष्टि भी नहीं की तथा हर्ष पूर्वक उसे बुलाया भी नहीं।

तब वह विचारने लगा कि- हाय! हाय! मेरे समान मन्द-बुद्धि ने गुरु को भी प्रसन्न न किये तो अब अन्य गुण उपार्जन करने का मुझे क्या काम है? यह सोचकर हृदय में महान् खेद कर उस दिन से बन्धुदत्त विशेष गुण उपार्जन करने से विमुख हो गया।

पश्चात् भवदेवसूरि अपने दोष की शुद्धि किये बिना मरकर प्रकट रीति से अत्यन्त पापी किल्विषिक देव हुआ। तत्पश्चात् वह एक दरिद्र ब्राह्मण का गूंगा पुत्र हुआ। पश्चात् जैसे-तैसे बोधिलाभ पाकर, तप करके स्वर्ग को गया।

इस प्रकार भवदेवसूरि का चरित्र सुनकर कृष्ण आदि जन हर्षित हो पर गुण ग्रहण करने में तत्पर हुए। वे बारम्बार नेमिनाथ भगवान को नमन करके अपने-अपने स्थान को गये और भगवान भी श्रमणगण के साथ अन्यत्र विचरने लगे।

इस प्रकार ऊँची चढ़ती दोषलता को काटने में दराते के समान श्रीकृष्ण के मनोहर चरित्र को सुनकर हे सुसाधुओं! तुम

दुष्कर्म रूप पानी को चूसने में ग्रीष्म ऋतु (निदाघ) के समान गुणानुराग को धारण करो।

इस प्रकार पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) का चरित्र पूर्ण हुआ।

श्री वज्रस्वामी का चरित्र प्रायः प्रसिद्ध है तथा हमने दिनकृत्य की टीका में वर्णन कर दिया है। अतः यहां नहीं कहते। गुणानुराग ही के अन्य लिङ्ग कहते हैं—

पालइ संपत्तगुणं गुणड्ढसंगे पमोदमुव्वहइ
उज्जमइ भावसारं गुरुतरगुणरयणलाभत्थी ॥१२२॥

मूल का अर्थ—संप्राप्त गुण को पालता रहे अधिक गुणवान का संग होने पर प्रमोद पावे और भाव पूर्वक उद्यम करे, क्योंकि-वह बहुमूल्य गुणरत्नों की प्राप्ति का इच्छुक होता है।

टीका का अर्थ—पाले अर्थात् प्रियपुत्र को उसकी जननी जिस प्रकार रखती अथवा बढ़ाती है उस भांति भलीप्रकार हुए कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण को संपादन करे, बढ़ावे तथा गुणों से जो आढ्य अर्थात् भरपूर हो, उनके संग अर्थात् मिलाप में दीर्घकाल से परदेश गये हुए स्नेही भाई को मिलने से जैसे आनन्द होता है वैसे ही खूब आनन्द पावे। वह इस प्रकार कि- असत् पुरुषों के संग रूप पङ्क से जो मैला मन किया था, सो मेरा मन साधु पुरुष के संबंध रूप पानी से आज निर्मल हुआ है। असंग चित्त वाले गुणवान साधुजनों के संग से आज मैंने पूर्व में रोपे हुए पुण्य रूप तरु का उत्तम फल पाया है। गुणानुराग ही से वह ध्यान, अध्ययन, तप आदि कृत्यों में भावसार होकर अर्थात् सद्भाव पूर्वक उज्वल होता है अर्थात् प्रयत्न करता है। क्योंकि- गुरुतर अर्थात् क्षायिकभाव से होने वाले

होने से महान् गिने जाते गुण-रत्न अर्थात् क्षायिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र उनके लाभ का अर्थी अर्थात् अभिलाषी होता है। क्योंकि-उद्यम करने वालों को अपूर्वकरण और क्षपकश्रेणी के क्रम से केवलज्ञान आदि की प्राप्ति होती है। यह बात सुप्रतीत (प्रसिद्ध) ही है।

सयणुत्ति व सीसत्ति व उवगारित्ति व गणिव्वउ व्व त्ति।
पडिबंधस्स न हेऊ नियमा एयस्स गुणहीणो ॥ १२३ ॥

मूल का अर्थ—ऐसे गुणानुरागी को स्वजन, शिष्य व उपकारी वा गच्छ वाला जो कोई गुणहीन हो, उस पर निश्चय प्रतिबन्ध होता नहीं।

टीका का अर्थ— स्वकीय-जन सो स्वजन हैं इससे। यहां इति शब्द उसके प्रकार बताता है और वा शब्द समुच्चयार्थ है। वह प्राकृत के कारण ह्रस्व हुआ है। अथवा शिष्य है इस प्रकार से, अथवा उपकारी अर्थात् भात पानी देकर इसने पहिले उपकार किया है इस हेतु से, अथवा एक गच्छवासी है इस हेतु से। इनमें से कोई भी प्रायः प्रतिवन्ध का हेतु होता है किन्तु गुणानुरागी पुरुष को तो इनमें से कोई भी निर्गुण होय तो प्रतिबन्ध का हेतु नहीं होता।

कारण वह ऐसा मानता है कि-शिष्य वा सहायी या एक गच्छवासी कोई भी सुगति को ले जाने वाला नहीं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र मात्र ही सुगति का मार्ग है। तब चारित्रवान् ने स्वजनादिक का क्या करना ? सो कहते हैं:—

करुणावसेण नवरं अणुसासइ तंपि सुद्धमग्गंमि।
अच्चंताजोग्गं पुण अरत्तदुट्ठो उवेहेइ ॥ १२४ ॥

मूल का अर्थ –निष्कारण करुणा लाकर उनको भी शुद्ध मार्ग में (लाने के लिये) शिक्षा दे और जो वे अत्यन्त अयोग्य जान पड़े तो उन पर अरक्तद्विष्ट रहकर उनकी उपेक्षा करे।

टीका का अर्थ— करुणा अर्थात् पर-दुःख निवारण की बुद्धि। क्योंकि कहा है कि—परहित सोचना सो मैत्रीभावना है। परदुःख निवारना सो करुणाभावना है। दूसरे को सुखी देखकर संतुष्ट होना सो मुदिताभावना है और पर-दोष देखकर उपेक्षा करना सो उपेक्षाभावना है। वह करुणावश अर्थात् उसमें रसिक होकर केवल अर्थात् राग-द्वेष छोड़कर फक्त करुणा से स्वजनादिक को भी अनुशासित करे अर्थात् शिक्षा दे। अपिशब्द से दूसरों को भी दे। किस विषय में सो कहते हैं– शुद्ध मार्ग में अर्थात् मोक्ष-मार्ग के विषय में। वह इस प्रकार कि—

क्या तू नरक-तिर्यंच-नर और देवगति तथा विचित्र योनियां जो कि दुःख ही की स्थान रूप हैं उनमें निरन्तर भटकता हुआ अभी थका नहीं? जिससे कि- पीड़ा के हेतु महा प्रमाद के अस्खलित रूप से वश में रहकर धर्म में दिल न लगाते तू अनार्य आचरण में रक्त बना हुआ है? जीव जो कि स्वर्ग में नहीं जा सकते तथा जो नरक में जा पड़ते हैं उसका अनार्य-प्रमाद ही कारणभूत है। ऐसा मेरा निश्चय है। तथा जो प्रमाद है वही केवल अनादिकाल का दुश्मन है और वह सदा काल साथ ही साथ रहता आता है। अतः तुमने इसकी गाढ शठता को जानना चाहिये।

जो विस्तार पूर्वक विकथा की जाती है, जो दुष्ट विषयों में गृद्ध होता है, जो सोते हुए और मत्त हुए के समान चेष्टा की जाती है, जो गुण व दोष का भेद जानने में नहीं आता, जो

अपने हित का उपदेश सुनने में भी क्रोध होना है और जो हित समझते हुए भी जो शिथिल होना । सो सब इस दुनिया में दुरात्मा प्रमाद रूप शत्रु का विलास है।

यह जानकर साहस पूर्वक इस दुर्जेय शत्रु को जीतना चाहिये क्यों कि– व्याधियों व शत्रुओं की जो कभी भी उपेक्षा करे तो वे हानि किये विना नहीं रहते। इत्यादि अनेक वचनों से उनको संवेग उपजाकर शुद्ध–धर्म में प्रवृत करे, परन्तु ऐसा तब हो सकता है कि– जब वे प्रज्ञापनीय हों, और अत्यन्त अयोग्य हों तो, उन पर राग–द्वेष न लाकर " निर्गुणों में उपेक्षा करना " इस वाक्य का अनुसरण करके उपेक्षा करे। इस प्रकार गाथा का अर्थ है।

गुणानुराग ही का फल कह बताते हैं—

उत्तमगुणाणुराया कालाइदोसम्रो अपत्तावि ।
गुणसंपया परत्थवि न दुल्लहा होइ भव्वाणं ॥ १२५ ॥

मूल का अर्थ— उत्तम गुणों के अनुराग से कालादिक के दोष द्वारा, कदाचित् इस भव में गुण संपदा न मिले तो भी पर–भव में भव्यजीवों को दुर्लभ नहीं होती।

टीका का अर्थ— उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट गुण अर्थात् ज्ञाना–दिक गुण उनमें अनुराग अर्थात् पूर्ण प्रीति उसके कारण, काल अर्थात् दुषमाकाल तथा आदिशब्द से संघयण आदि लेना। तद्रूप दोष अर्थात् विघ्नकारक होने से दूषण उसके योग से वर्त–मान जन्म में गुणसंपत् अर्थात् परिपूर्ण धर्मसामग्री नहीं मिली हो, तो भी पर-भव में तो वह भव्य-जनों को दुर्लभ कदापि नहीं होती, ऐसा सोचा जा सकता है।

इस प्रकार गुणानुराग रूप छठा लिङ्ग कहा। अब गुर्वाज्ञा–राधन रूप सातवां लिङ्ग कहते हैं—

गुरुपयसेवानिरओ गुरुआणाराहणंमि तल्लिच्छो ।
चरणभरधरणसत्तो होइ जई नन्नहा नियमा ॥१२६॥

मूल का अर्थ— गुरु के चरण की सेवा में लगा रहकर गुरु की आज्ञा का आराधन करने में तत्पर रहे और चारित्र का भार उठाने में समर्थ हो, वही यति है अन्यथा कदापि नहीं।

यहां कोई शंका करे कि— पूर्वाचार्यों ने चारित्रियों के छः ही लिङ्ग कहे हैं। क्योंकि कहा है कि— मार्गानुसारी हो, श्रद्धावान् हो, प्रज्ञापनीय हो, क्रिया में तत्पर रहने वाला हो, गुणरागी हो और शक्यारंभ वाला हो वह चारित्री है।

अतः यह सातवां गुर्वाराधन रूप भाव-साधु का लिङ्ग कहां कहा हुआ है?

उत्तर— चौदह सौ प्रकरण रूप प्रासाद के सूत्रधार समान प्रभु श्री हरिभद्रसूरि ने उपदेशपद्मग्रंथ में यह लिङ्ग भी कहा है। भाग्यशाली भाव-साधु के ये सब लक्षण हैं और गुरु की आज्ञा का संपादन करना, यह यहां गमक लिङ्ग है। इतना उत्तर बस है।

अब प्रकृतसूत्र की व्याख्या करते हैं। गुरु छत्तीस गुण युक्त होता है। यथाः— देश, कुल, जाति और रूपवान्, संघयण वाला, धीरज वाला, अनाशंसी, अविकत्थन, अमायी, स्थिरपरिपाटी वाला, गृहीतवाक्य, जितपर्षद्, जितनिद्र, मध्यस्थ, देश-काल और भाव का ज्ञाता, आसन्नलब्धप्रतिभ, नानाविध देश-भाषा का ज्ञाता, पांच प्रकार के आचारों में लगा हुआ, सूत्र, अर्थ व तदुभय का ज्ञाता, उदाहरण-हेतु-कारण और नयनिपुण, ग्राहणाकुशल, स्वसमय-परसमय का ज्ञाता, गंभीर, दीप्तिमान्, शिव और सौम्य इस भांति सैकड़ों गुणों से जो युक्त हो, वह प्रवचन का सार कहने के योग्य होता है।

जो आर्य देश में हुआ हो, उसकी भाषा सुख से समझी जा सकती है, अतः देश का ग्रहण किया? कुल सो पिता सम्बन्धी इक्ष्वाक्वादिवंश, इसमें जन्मा हो, वह डाले हुए भार को उठाने में थकता नहीं। जाति सो माता सम्बन्धी जानो। जातिवन्त होता है, वह विनयादि गुणों से युक्त होता है। जहां आकृति होती है वहां गुण होते हैं, इस कहावत के अनुसार रूप का ग्रहण किया है। संघयण और धीरज वाला व्याख्यान आदि में थकता नहीं। अनाशंसी होता है सो श्रोताओं से वस्त्रादि की इच्छा नहीं रखता। अविकत्थन होता है सो हितमितभाषी रहता है। अमायी होता है, सो विश्वास करने योग्य रहता है। स्थिरपरिपाटी इसलिये कहा है कि-स्थिर परिचित ग्रंथवाले के सूत्रार्थ गल नहीं जाते। ग्राह्यवाक्य होने से सबको आज्ञा में चला-चला सकता है। मध्यस्थ होने से शिष्यों पर समचित्त रख सकता है। देश, काल, भाव का ज्ञाता होने से सुखपूर्वक गुणवाले देशादिक में विचर सकता है। आसन्नबुद्धि होने से परवादि को उत्तर देने में समर्थ रहता है।

अनेक देशों की भाषाओं का ज्ञाता होने से, अनेक देश के शिष्यों को सुखपूर्वक समझा सकता है। ज्ञानादिक पांच आचार-वाला होने से, उसका वचन श्रद्धेय माना जाता है। सूत्र अर्थ तथा तदुभय की विधि का ज्ञाता होने से उत्सर्ग तथा अपवाद के प्रपंच को यथावत् बता सकता है। आहरण अर्थात् दृष्टान्त-हेतु अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकि साधन-कारण अर्थात् दृष्टान्त रहित उपपत्ति मात्र और नय सो नैगमादिक नय, इन सबमें में कुशल होने से सुख से उनको प्रयुक्त कर सकता है। ग्राहणा-कुशल होने से विविध युक्तियों से शिष्यों को बोध सकता है। स्वसमय और परसमय का ज्ञाता होने से, सुखपूर्वक उनका स्थापन

और तर्क कर सकता है। गंभीर होने से उसका मर्म नहीं जाना जा सकता। दीप्तिमान् होने से सन्मुख कोई ठहर नहीं सकता। शिव का हेतु होने से शिव माना जाता है, क्योंकि– उसके आश्रित देश में-महामारी आदि दब जाती है। सौम्य होने से सब के मन व आंखों को रमणीय लगता है।

इस प्रकार सैकड़ों गुणों अर्थात् (प्रेम) आदि अनेक गुणों से जो युक्त होता है, वह प्रवचन का सार कहने को अर्थात् प्रवचन का अनुयोग करने को योग्य होता है।

अथवा छत्तीस गुण इस प्रकार हैं:—

आठ प्रकार की गणिसंपत् उसको चौगुनी करने से बत्तीस होते हैं। उसमें चार प्रकार का विनय जोड़ते उसके छत्तीस गुण होते हैं।

गण जिसको हो, वह गणि अर्थात् आचार्य, उसकी संपत् अर्थात् समृद्धि, वह आठ प्रकार की है:—आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोगमति, इन सात विषयों में संपत् और आठवीं संग्रहपरिज्ञा है, इस भांति आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना. मति, प्रयोगमति और संग्रहपरिज्ञा, इन भेदों से आठ प्रकार की संपत् है। उसको चार से गुणा करने से बत्तीस गुण होते हैं। वहाँ आचार याने अनुष्ठान तद्रूप संपत् चार प्रकार की है:—संयमध्रुव-योगमुक्तता अर्थात् चारित्र में नित्य समाधि के साथ उपयोग। असंप्रग्रह अर्थात् अपनी जाति आदि के गर्व रूप आग्रह का वर्जन करना। अनियतवृत्ति अर्थात् अनियत विहार और वृद्धशीलता अर्थात् शरीर और मन की निर्विकारिता।

इस भाँति श्रुतसंपत् चार प्रकार की है:—बहुश्रुतता अर्थात् उस युग में सब से प्रधान आगम का ज्ञान। परिचित सूत्रता

अर्थात् उत्क्रम और क्रम वाचनादिक से स्थिरसूत्रता। स्वसमयादि भेद से विचित्रसूत्रता और उदात्त आदि स्वरविज्ञान से घोष-विशुद्धिकरणता।

शरीरसंपत् चार प्रकार की है:—आरोहपरिणाहयुक्तता अर्थात् उचित ऊंचाई आदि विस्तार। अनवत्रप्यता अर्थात् अलज्जनीय शरीर। परिपूर्णेन्द्रियता अर्थात् आंख आदि की ऐब (कमी) न हो सो और स्थिरसंहननता अर्थात् तप आदि करने में समर्थ संघयण।

वचनसंपत् के चार प्रकार इस भांति हैं:—आदेयवचनता, मधुरवचनता, अनिश्रितवचनता अर्थात् मध्यस्थवचनता और असंदिग्धवचनता।

वाचनासंपत् के चार प्रकार ये हैं:—उद्देशन जानकर याने कि शिष्य परिणामक है अथवा कैसा? आदि समझकर उद्देश करना। जानकर निर्देश करना। परिनिर्वापन करके वाचना देना अर्थात् पूर्व दिये हुए आलापक शिष्य को पक्के कराकर फिर दूसरा सूत्र देना। अर्थ निर्वापणा अर्थात् अर्थ को पूर्वापर मिले ऐसा बिठाना।

मतिसंपत् के चार प्रकार ये हैं:—अवग्रह, इहा, अपाय और धारणा।

प्रयोगमतिसंपत् के चार प्रकार ये हैं:—यहाँ प्रयोग याने वादमुद्रा है। आत्मपरिज्ञान अर्थात् अपने में वाद आदि करने का कैसा सामर्थ्य है सो समझना। पुरुषपरिज्ञान अर्थात् सन्मुख वादी बौद्ध है वा साँख्य है आदि पहिचानना। क्षेत्रपरिज्ञान याने यह स्थान माया प्रधान है वा सरल है, अथवा साधुभावित है वा

अभावित है, सो जानना। और वस्तुज्ञान याने यह राज, अमात्य वा सभ्य भद्रक है वा अभद्रक है, सो जानना।

संग्रह याने स्वीकार करना। तत्संबन्धी सो आठवीं संपत् है। उसके चार प्रकार ये हैं:—पीठ-फलकादिक सम्बन्धी। बालादियोग्य-क्षेत्र संबंधी। यथासमय स्वाध्याय संबंधी और यथोचित् विनय आदि सम्बन्धी। (स्वीकार करने की समझ)

तथा विनय के चार भेद हैं:—आचारविनय, श्रुतविनय विक्षेपणविनय, और दोषनिर्घातविनय, इस भांति विनय में चार प्रकार की प्रतिपत्तियां हैं। उसमें आचार, विनय, संयम, तप, गण और एकाकी विहार सम्बन्धी चार प्रकार की सामाचारी रूप से है।

वहां पृथ्वीकाय रक्षा आदि सत्रह पदों में स्वयं करना, दूसरे से कराना, डावांडोल होते हुए को स्थिर करना और यतमान को उत्तेजना देना, यह संयम सामाचारी है। पाक्षिक आदि में चौथभक्त आदि तप करने में स्वपर को प्रवृत्त करना सो तप सामाचारी। बालग्लानादिक के वैयावृत्य आदि में धीमे पड़ते गच्छ को प्रवृत्त करना, तथा स्वयं भी उद्यत होना सो गण सामाचारी। एकाकि विहार की प्रतिमा स्वयं अंगीकार करना तथा दूसरों को अंगीकार कराना सो एकादि विहार सामाचारी।

श्रुत विनय के चार प्रकार ये हैं:—सूत्रग्राहणा, अर्थश्रावणा, हितवाचना अर्थात् योग्यतानुसार बंचाना और निशेषवाचना अर्थात् परिपूर्ण बंचाना।

विक्षेपणाविनय के चार प्रकार ये हैं:—मिथ्यात्व का विक्षेपण कर, मिथ्यात्वदृष्टि को स्वमत में लाना। आरम्भ का विक्षेपण करके, सम्यग्दृष्टि को चारित्र में चढ़ाना। धर्म से पतित हुए को धर्म में स्थापित करना और जिसने चारित्र अंगीकार किया हो

ऐसे अपने आपको वा दूसरे को अनेषणीयादिक से निवार कर हितार्थ में लगाना।

दोषनिर्घातविनय के भी चार भेद हैं। यथा:-क्रुद्ध का क्रोध उतारना। दुष्ट याने विषय से दूषित का दोष दूर कराना। परसमय में कांक्षा रखने वाले की कांक्षा को छेदन करना तथा स्वयं क्रोध, दोष, कांक्षा छोड़कर आत्मध्यान में रहना।

इस प्रकार आपको व दूसरे को जो सुधारना सो विनय है। इस प्रकार यहां दिग्मात्र बताया है। विशेष जानना हो तो व्यवहार सूत्र की टीका से जान लेना चाहिये। इस भांति सब मिलकर गणि के छत्तीस गुण होते हैं।

तीसरी (योजना) यह है:—व्रतषट्क, कायषट्क और अकल्पषट्क मिलकर अठारह तथा आचारवत्त्व आदि आठ और दश प्रकार का प्रायश्चित, इस तरह आचार्य के छत्तीस गुण होते हैं।

व्रतषट्क और कायषट्क प्रसिद्ध हैं। अकल्पादिषट्क इस प्रकार हैं:—अकल्प दो प्रकार का - शिक्षकस्थापनाकल्प और अकल्पस्थापनाकल्प।

उनमें पहला यह है कि:—जो शिष्य पिंडेषणा, शय्येषणा, वस्त्रैषणा और पात्रैषणा ये चार अध्ययन न सीखा हो, उसके द्वारा लाये हुए आहारादि अन्य यतियों को कल्प्य नहीं है। तथा ऋतुबद्ध काल में असमर्थ को दीक्षा नहीं देना। वर्षाकाल में प्रायशः दोनों को भी दीक्षा नहीं देना। इसका नाम शिक्षकस्थापनाकल्प है।

दूसरा अकल्पस्थापनाकल्प सो अनेषणीय पिंड-शय्या-वस्त्र-पात्र सम्बन्धी अकल्प जानो। गृहिभाजन सो कांसे की कटोरी आदि। पर्यंक अर्थात् पलंग आदि पर बैठना। निषद्या अर्थात्

भिक्षार्थ किसी के घर जाकर, वहां बैठना। स्नान दो प्रकार का है–आंख का पलक प्रक्षालन करना भी देशस्नान माना जाता है और सर्वांग का प्रक्षालन करना सर्वस्नान है। शोभा याने विभूषा करना। इन छहों का वर्जन करना, इस भांति अठारह स्थल हुए। इनको आचार्य के गुण इसलिये मानना चाहिये कि इनके अपराध में वे सम्यक् प्रायश्चित्त जानते हैं। आचारवत्त्व आदि आठ गुण पूर्ववत् हैं।

दश प्रकार का प्रायश्चित्त यह है:—

आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र. विवेक, कायोत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्यता, और पारांचित।

समीपस्थ घरों से लाई हुई भिक्षा आदि गुरु को बताना, सो आलोचनार्ह प्रायश्चित है। अनाभोगादि से प्रमार्जन करते अथवा थूंकते कदाचित् जीव का वध नहीं भी हुआ हो तो भी मिथ्या-दुष्कृतं देना, सो प्रतिक्रमणार्ह है। संभ्रम और भय आदि में सर्व व्रतों में अतिचार लगने से आलोचना प्रतिक्रमणरूप उभयार्ह है। उपयोग पूर्वक लिया हुआ अन्न पीछे से अशुद्ध होने पर परठ आना सो विवेकार्ह है। गमनागमन और विहार आदि में पचीस उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना, सो व्युत्सर्गार्ह है। जिसके प्रति-सेवन से निर्विकृति से लेकर छःमासी तक का तप दिया जाय, सो तपार्ह है। इस प्रकार जहां पंचकादि पर्याय का छेदन हो, सो छेदार्ह है। जहां पुनः व्रतारोपण हो, सो मूलार्ह है। जहां अमुक काम अनाचीर्ण हो, वहां तक व्रतों में स्थापित न हुआ जाय, सो अन-वस्थाप्यार्ह है, और जहां तप, लिंग, क्षेत्र और काल का अन्त आ जाय, सो पारांचित है।

इन व्रत षट्कादि से छत्तीस सूरिगुण होते हैं। इस प्रकार गुणवान गुरुओं के चरण की सेवा अर्थात् यथारीति आराधना,

न कि केवल समीप ही रहना। उसमें तत्पर रहकर निष्ठुर वचनों से निर्भत्सित हो, तो भी गुरु को छोड़ने की इच्छा न करे—किन्तु गुरु में बहुमान ही रखे। जैसे कि:—

अहित आचरणरूप घाम को दूर करने वाला गुरु के मुखरूप मलयाचल में से निकला हुआ वचन रस रूप चंदन का स्पर्श, भाग्यशाली ही के ऊपर पड़ता है। लज्जा, संयम, ब्रह्मचर्य तथा कल्याणभागी जन को शुद्धि का स्थान है। जो गुरु मुझे सदैव मिलने प्रायश्चित की शिक्षाएँ देते हैं, उनको मैं बारम्बार पूजता हूँ इत्यादि। तथा गुरु की आज्ञा का आराधन करने में अर्थात् आदेश बजाने में तल्लिप्सु अर्थात् उसी आदेश को प्राप्त करने का इच्छुक हो, अर्थात् गुरु की आज्ञा की राह देखता हुआ पास ही खड़ा रहे, ऐसा जो हो; वह सुविहित पुरुष चारित्र का भार उठाने में समर्थ होता है। इससे विपरीत होता है, वह निश्चयपूर्वक नहीं होता।

शीलांग-

जे नो करंति ६०००	जे नो करावेंति ६०००	जे नो अणुभोयंति ६०००		
मणसा २०००	वयसा २०००	तणुणा २०००		
निज्जिय आहार सन्न ५००	निज्जिय भयसन्न ५००	निज्जिय मेहुण सन्न ५००	निज्जिय परिग्गहसन्न ५००	
सोइंदी १००	चक्खिंदी १००	घाणिंदी १००	जिब्भिंदी १००	फासिंदी १००
पुढवी- कायारंभं १०	आउ- कायारंभं १०	तेउकायारंभं १०	वाउ- कायारंभं १०	वणस्सइ- कायारंभं १०
खंतिजुया ते मुणी वंदे १	समद्दवा ते मुणी वंदे २	सअज्जवा ते मुणी वंदे ३	मुत्तिजुया ते मुणी वंदे ४	तवजुया ते मुणी वंदे ५

-रथ

बेइंदि आ०	तेइंदि आ०	चउरिंदि आ०	पंचेन्दि आ०	-अजीव-कायारंभं०
१०	१०	१०	१०	१०
ससंयमा ते मुणी वंदे	सच्चजुया ते मुणी वंदे	सोयजुया ते मुणी वंदे	आकिंचणा ते मुणी वंदे	बंम्भजुया ते मुणी वंदे
६	७	८	९	१०

गुणों का मूलभूत अर्थात् प्रथम कारण गुरुकुलवास है। इस प्रकार आचरांग के प्रथम सूत्र में अर्थात् "सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खाय" इस वाक्य में कहा है। सारांश यह है कि-श्रीसुधर्मस्वामी जंबूस्वामी को कहते थे कि-"भगवान के पास वसते हुए मैंने आगे कही जाने वाली बात सुनी" यह कहने का भावार्थ यह है कि-समस्त धर्मार्थियों ने गुरुसेवा, करनी चाहिये। अतएव चारित्र की इच्छा करने वाले मनुष्यों ने गच्छ में वसना चाहिये। क्योंकि-गच्छ में वसने से निम्न गुण होते हैं।

"गुरु का परिवार गच्छ कहलाता है। वहां वसने से वहुत निर्जरा की जा सकती है, तथा सारणा आदि के कारण विनय संपादन होने से दोष स्वीकार नहीं होता। यद्यपि किसी का भाव चला गया हो तथापि उसे दूसरे बना रखते हैं। जैसेकि-वांस के झुण्ड में रहने वाला कटा हुआ वांस भी भूमि पर नहीं गिरता"।

पूर्व पक्ष—कोई पूछे कि-आगम में तो यति ने आहारशुद्धि रखना. यही उसके चारित्र की शुद्धि का हेतु कहा है। कहा है कि-"पिंड की शुद्धि न रखे वह अचारित्रीय है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं, और चारित्र गया तो सम्पूर्ण दीक्षा निरर्थक है। तथा जिनों ने जिनशासन की मूल भिक्षाचर्या ही बताई है। अतः इसमें जो अकलाये उसे मंद श्रद्धावान जानना चाहिये"। अब पिंड-शुद्धि तो अधिकों में वसते कठिनाई ही से रखी जा सकती है। अतः अकेले रहकर उसीको रखना (संपादन करना) चाहिये। ज्ञानादिक प्राप्त करने का क्या काम है। मूलभूत चारित्र ही पालना चाहिये। मूल होने पर ही लाभ की चिंता श्रेष्ठ है।

उत्तरः—ऐसा न कहो। क्योंकि-अकेला फिरने वाला गुरु के आधीन नहीं होता। वैसे ही अन्य साधु की अपेक्षा भी उसको

नहीं होती, और लोभ तो अति दुर्जय है। जिससे क्षण-क्षण में बदलते परिणाम वाले अकेले फिरने वाले से पिंड-विशुद्धि ही पाली नहीं जा सकती। कहा भी है कि—

"अकेले को अनेक दोष लगते हैं:-स्त्री फंसावे, कुत्ते काटें, शत्रु मारे, भिक्षा की विशुद्धि न होय, महाव्रत का भंग होय, अतएव दूसरे का संग करना चाहिये"। और भी कहा है कि-"अकेला फिरने वाला एषणा का भंग करता है" इत्यादि। जब ऐसा है, तब तुमने कहा कि-मूलभूत चारित्र ही का पालन करना चाहिये, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? तथापि कोई दृढ़चित्त पुरुष अकेला रहकर शुद्ध आहार से अपना निर्वाह भी कर सके तो भी "सर्व जिनों ने अकेले विहार का निषेध किया है। उसके करने से अनवस्था होती है और स्थविर-कल्प में बाधा पहुँचती है। तथा अकेला होने से श्रुत में उपयोग रख कर चले तो वह शीघ्रही तप-संयम को बिगाड़ता है"। इस वचन से अकेला विहार करने वाला तीर्थंकर की आज्ञा का विराधक माना जाने से उत्तम नहीं कहा जाता। यही बात सूत्रकार कहते हैं:—

एयस्स परिच्चाय सुद्धुञ्छाइवि न सुंदरं भणियं।
कम्माइ वि परिसुद्धं गुरुआणावत्तिणो विंति॥१२८॥

मूल का अर्थ—इसका परित्याग कर शुद्ध भिक्षा आदि करे, तो भी वह ठीक नहीं कही जाती और गुरु की आज्ञा में रहने वाले को कभी आधाकर्मि मिले, तो भी वह परिशुद्ध ही कहलाती है।

टीका का अर्थ—इसके अर्थात् गुरुकुलवास के परित्याग से अर्थात् सर्वथा इसको छोड़ देने से शुद्ध भिक्षा आदि करे। आदि

शब्द से शुद्ध उपाश्रय वस्त्रपात्र आदि लेना, सो आगम के ज्ञानी पुरुषों ने ठीक नहीं कहा। देखो आगम में इस प्रकार कहा है कि—

"गुरुकुल आदि को छोड़कर शुद्ध-भिक्षा करने का यत्न करना, सो यहां शबर नामक राजा ने भगवां वस्त्रधारी अपने गुरु की मोरपींछियां लूटने के लिये उसे पगों से स्पर्श किये विना मार डालने का हुक्म दिया उसके समान है"।

शुद्ध उंछ अर्थात् निर्दोष भिक्षा। आदिशब्द से कलह तथा ममत्वत्याग में जो यत्न अर्थात् उद्यम है। वह गुरुकुल के त्याग से। तथा अपिशब्द से सूत्रार्थ में हानि पहुँचाकर, तथा ग्लानादिक को छोड़कर जो करे, सो यहां अर्थात् जैनमत में कैसा कहा हुआ है, सो कहते हैं कि—शबर नामक राजा ने उसके भगवांधारी गुरु की मोरपींछ लेने के लिये उनको मार डालने की आज्ञा देते पांव से न छूने का आदेश दिया, तद्वत् है।

शबर राजा की बात इस प्रकार है—

किसी संस्थान में शबर नामक राजा था। वह सरजस्क (भगवां वस्त्र पहिरनेवाले बाबा) का भक्त था। उसको मिलने के लिये एक समय सिर पर मोरपंख का छत्र धारण किये हुए गुरु उसके यहां आया। वह सन्मान पाकर बैठा। तब राजा की रानी उसका चमकदार चन्द्रों वाला छत्र देखकर कुतूहल वश मांगने लगी किन्तु उस देश में मोर न होने से गुरु देने की इच्छा न बताते उठ कर अपने स्थान को आया। तब रानी न खाने की हठ लेकर राजा को प्रोत्साहित करने लगी।

राजा के बारम्बार मांगने पर भी जब वह न देने लगा तब स्त्री के प्रेम से उन्मत्त होकर अपने सुभटों को आज्ञा दी कि—

हो उसको विशेष प्रदेश वाली करे और आयुकर्म को कभी बांधे कभी न भी बांधे किन्तु असातावेदनीय को तो बारम्बार बढ़ाता रहे तथा अनादि अनवदग्र-अनन्त दीर्घकाल वाले संसार कांतार में भटकता रहता है।

हे पूज्य ! ऐसा क्यों कहते हो ?

गौतम ! आधाकर्म खाने वाला श्रमण निग्रंथ अपने धर्म का (अर्थात् श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म का) अतिक्रम करता है। जिससे वह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रसकाय की अपेक्षा नहीं रखता और जिन जीवों के शरीर का बना हुआ आहार लेता है, उनकी भी अपेक्षा नहीं रखता। इसी कारण से ऐसा कहते हैं"। (तथा स्थानांतर में कहा है कि-)

"हे पूज्य ! जीव अल्पायुष्य कैसे बांधते हैं ?

गौतम ! जो प्राणघाती हो, असत्य बोलकर उस भांति के श्रमण माहण को अप्रासुक, अनेषणीय आहार, पानी, खादिम, स्वादिम वहोरावे, इस प्रकार जीव अल्पायुष्य बांधते हैं"। किन्तु अपवाद मार्ग में अर्थात् बहुत रोगी अवस्था आदि प्रसंग में न निभ सके, तब गच्छ में रहकर गुरु की आज्ञानुसार वर्ताव करके अशठभाव से पंचकपरिहाणि के क्रम से सर्वशक्तिसे यतना करते हुए मुनि को आतुर के दृष्टांत से, वह आधाकर्मादिक भी निर्दोष ही है।

क्योंकि आगम में कहा है कि- "निभ सकता हो, उस समय अशुद्ध है वह लेनेवाले व देनेवाले दोनों को अहितकर्त्ता है। पर असंस्तरण में अर्थात जब न निभ सके, तब आतुर के दृष्टांत से वही हितकर्त्ता माना जाता है" तथा कहा है कि-"सूत्र की विधि के अनुसार यतना करने वाले और आत्म-विशुद्धि रखकर वर्ताव करने वाले को जो विराधना होती है, सो निर्जरारूप फल देता है"।

गुरु की आज्ञा मानने वाले की विशेष प्रशंसा करते हैं—

ता धन्नो गुरुआणं न मुयइ नाणाइगुणमणिनिहाणं ।
सुपसन्नमणो सययं कयन्नुयं मणसि भावंतो ॥१२९॥

मूल का अर्थ— इसी हेतु से धन्य पुरुष ज्ञानादि गुण रूप मणियों की खान समान गुरु की आज्ञा को छोड़ता नहीं; किन्तु सदैव आनन्दित मन रखता है और अपने को कृतज्ञ मानता है।

टीका का अर्थ— क्योंकि-गुरु की आज्ञा अत्यन्त लाभ करता है। इससे धन्य पुरुष गुरु की आज्ञा को छोड़ता नहीं और सुप्रसन्न मन अर्थात् अतिशय निर्मल मन रखने से निष्ठुर रीति से गुरु के शिक्षा देने पर भी अप्रसन्न नहीं होना तथा अंतःकरण को कलुषित नहीं करता। वैसे ही कुन्तलदेवी का दृष्टांत याद करके प्रद्वेष धारण नहीं करता। किन्तु ऐसा विचार करता है कि-"गुरु शीतल अथवा गर्म वचन द्वारा जो कुछ मुझे शिक्षा देते हैं वह मेरा ही लाभ देखकर देते हैं। यह विचार कर वह प्रयत्न पूर्वक स्वीकार करता है"।

किस प्रकार सो कहते हैं कि— निरन्तर उपकार न भूलने रूप कृतज्ञता को हृदय में स्थापित करके, वह इस प्रकार कि—"विज्ञान और ज्ञान के भण्डार गुरु-रूप सूत्रधार ने पत्थर के समान लुढकते हुए मुझको देव के समान वन्दनीय किया है"। ऐसा हो, वही धर्म-रूप धन के योग्य होने से धन्य माना जाता है।

कुन्तलदेवी का उदाहरण यह है—

पृथ्वी रूप महिला के कपाल में तिलक समान अवनिपुर नामक एक नगर था। वहां अति प्रकट प्रताप ही से शत्रुओं को जीतने वाला जीतशत्रु नामक राजा था। उसके कुन्तलदेवी नामक

स्वभाव ही से क्रूर मन वाली एक रानी थी तथा दूसरी सुमतिवान् भी बहुत-सी रानियां थीं।

उन रानियों ने अपने द्रव्य से ऊँची चोटियों के समान शिखर वाले और सुवर्ण के कलश वाले जिन-मंदिर बनवाये। तब मत्सर से भर कर कुन्तलदेवी ने उनसे विशेष शोभा वाला हिमाचल समान धवल मन्दिर बनवाया। वहां वह आश्चर्यकारक गीत, नृत्य कराती तथा सुनने से तुरन्त अचम्भा उत्पन्न करने वाले बाजे बजवाती, किन्तु वह दूसरे मन्दिरों में होती हुई पूजा देख तथा बाजों का गंभीर शब्द सुनकर प्रद्वेष धारण करती और उनकी बात सुनकर भी द्वेष करती थी। परन्तु उसकी दूसरी सपत्नियां अक्रूर मन वाली, जिन-मत में रक्त और परमार्थ को विचारने वाली थीं। उनको लेश-मात्र भी प्रद्वेष नहीं आता था।

अब प्रज्वलित प्रद्वेष-रूप अग्नि की ज्वालाओं से धर्म-रूप वन को जला देने वाली कुन्तलदेवी एक समय बहुत बीमार हुई। तब राजा ने उसके आभूषण आदि लेकर अपने भण्डार में रखे। जिससे वह अतिशय आर्त्तध्यान में पड़ी! पश्चात् वह हीनपुण्य वाली क्रूर रानी मर कर वहां कुत्ती हुई। वह पूर्व के अभ्यास से अपने बनवाये हुए जिनमंदिर के द्वार पर बैठी रहती थी। वहाँ किसी समय केवलज्ञानी पधारे। उनको नमन करके अन्तःपुर की रानियों ने पूछा कि-हे भगवन्! कुन्तलारानी मरकर कहाँ गई है?

तब गुरु ने भी उसका प्रद्वेष करने आदि का सर्व वृत्तान्त कह कर कहा कि- वह दुर्लभ निर्मल सम्यक्त्व को दूर करके कुत्ती हुई है। यह सुनकर वे अतिशय वैराग्य प्राप्त कर पर्षदा उठने पर जिन-भवन के द्वार पर जाकर, उस कुत्ती को देखने लगीं, तो उनको बहुत करुणा आई, जिससे उन्होंने उसके सन्मुख बलि तथा पूरी आदि डाली।

वे उसे कहने लगीं कि- हे महाभागे ! तूं ने उस समय धर्म में तत्पर होकर भी क्रूरता नहीं छोड़ी, जिससे तेरी यह दुर्गति हुई है। इसलिये अभी भी इस क्रूरता को अक्रूरभाव रूप अग्नि से वन के समान जलाकर अपने को समभाव रूप पानी से सिंचित कर।

हे कुत्ती ! दुःख के टालने वाले जिन-धर्म में मन रख सदैव प्रद्वेष को त्याग और हृदय में संतोष रख। इत्यादि उनकी अति आतुरता देख तथा वाणी सुनकर वह कुत्ती चौंककर वारम्बार सोचने लगी कि- यह क्या है ?

वह बहुत विचार करते-करते जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त हुई। जिससे वैराग्य स्फुरित होने से पूर्वकृत सकल दुष्कृतों की वारंवार निन्दा करने लगी। पश्चात् उसने सिद्ध की साक्षी से अनशन ले आयुष्य पूर्ण कर वैमानिक देवत्व प्राप्त किया और क्रमशः मुक्ति को जावेगी।

इस प्रकार प्रद्वेष रखने वाली कुन्तलदेवी को हुआ कड़ुवा फल सुनकर हे भव्यों ! तुम संसार के भय से डर कर निरन्तर प्रसन्न मन रखो।

इस प्रकार कुंतलदेवी का उदाहरण पूर्ण हुआ।

कोई पूछे कि- क्या कोई भी गुरु गुण-संपत्ति के हेतु सेवा करना वा कोई विशिष्ट गुरु ? उत्तर यह है कि—

गुणवं च इमो सुत्ते जहत्थगुरुसद्दभायणं इट्ठो।
गुणसंपया दरिद्दो जहुत्तफलदायगो न मओ ॥१२०॥

मूल का अर्थ— सूत्र में गुणवान ही को यथार्थ गुरु शब्द का पात्र माना है और गुण में जो दरिद्री हो, उसे यथार्थ फल का दाता नहीं माना।

टीका का अर्थ— च शब्द अवधारणार्थ होने से गुण-गण से अलंकृत गुरु ही सूत्र में अर्थात् सिद्धान्त में यथार्थ अर्थात् अन्वय वाले गुरु शब्द का भाजन अर्थात् आधार स्वीकृत किया है। यथा-

धर्म का ज्ञाता, धर्म का कर्ता, सदैव धर्म में तत्पर रहने वाला और जीवों को धर्मशास्त्र का उपदेश देने वाला हो, सो गुरु कहलाता है। इस प्रकार गुरु शब्द का अन्वयार्थ है। वह अन्वयार्थ श्रुतधर्म के उपदेशक और चारित्रधर्म के विधायक संविग्न गीतार्थ गुरु ही को लागू पड़ सकता है। उक्त गुरु के मुख्यतः निम्नांकित १८ गुण हैं—

छः व्रत, छः काय की रक्षा और अकल्प, गृहिभाजन, पलंक, निषद्या, स्नान और शोभा इन छहों का त्याग। इन अठारह मुख्य गुणों के बिना गुरुत्व का अभाव ही जानों। जैसे तंतुओं के बिना पट (वस्त्र) का अभाव रहता है, वैसे और उसी प्रकार से श्री शय्यंभवसूरि महाराज ने कहा है कि—

दश और आठ अर्थात् अठारह स्थानों है उसका सेवन से अज्ञ दोषित होता है उनमें से कोई भी स्थान में वर्त्तमान निर्ग्रंथपन से भ्रष्ट होता है।

शेष गुण यथा— प्रतिरूप (रूपवान), तेजस्वी, युगप्रधानागम, मधुरवाक्य, गंभीर, धीमान् और उपदेश में तत्पर हो, सो आचार्य है। तथा अपरिश्रावी, सौम्य, संग्रहशील, अभिग्रह की मति वाला, अविकत्थन, अचपल और प्रशांत हृदयवान् हो, सो गुरु कहलाता है इत्यादिक। वैसेही देश, कुल, जाति रूप आदि विशेष

गुण हैं और वे कादाचित्क (अनियमित) हैं। पट की रक्तता के समान। अतः यहां प्रधान गुणों से युक्त हो, वह गुणवान लेना चाहिये। क्योंकि- उन्हीं गुणों से काम चलता है और उनके साथ शेष गुण मिलाये जांय तो अधिक अच्छा ही है।

इसके विपर्यय में क्या होता है, सो कहते हैं:— गुणसम्पदा अर्थात् सद्गुण रूप ऋद्धि से जो दरिद्री हो, उसे गुरु के संप्रयोग के यथोक्त फल का संपादक जिनागम के ज्ञाता पुरुषों ने बिल्कुल नहीं माना। अतः निर्गुण गुरु का सेवन नहीं करना चाहिये।

कोई पूछेगा कि- आजकल काल के प्रताप से सर्व गुण संपत्ति मिलना दुर्लभ है। क्योंकि- कोई पुरुष किसी कारण से किसी गुण में अधिक हीन होता है। तो दूसरे गुण में अधिक होता है। इस भांति तारतम्य भेदों से अनेक प्रकार के गुरु हैं। इससे उनमें से किसको गुरुरूप में सेवन करना। इस विषय में हमारा मन डोलायमान होता है। अतः क्या करना चाहिये ? ऐसा शिष्य के प्रीतिपूर्वक पूछने पर गुरु कहते हैं—

मूलगुणसंपउत्तो न दोसलवजोगओ इमो हेओ।
महुरोवक्कमओ पुण पवत्तियव्वो जहुत्तंमि ॥१३१॥

मूल का अर्थ— मूल-गुण से युक्त गुरु दोषलव के योग से छोड़ने के योग्य नहीं। उन्हें तो माठी रीति यथोक्त गुणों में चढ़ाना चाहिये।

टीका का अर्थ— मूलगुण याने पंच महाव्रत अथवा छः व्रत षट्काय आदि उनसे सम्यक् अर्थात् सद्बोध पूर्वक प्रकर्ष से अर्थात् अतिशय उद्यमी होकर जो युक्त हो, सो मूल-गुण संप्रयुक्त गुरु आशुकोपित्व-जल्द गुस्सा होना, वचनापाटव-बोलने में सकुचाना,

मंदता, मनाक्प्रमादिता-कुछ प्रमादपन आदि दोषों के लवों के योग से हेय अर्थात् छोड़ने योग्य नहीं है।

आगम में भी इस प्रकार कहा है कि-"जो गुरु को मंद, वृद्ध वा कम पढ़ा हुआ जानकर हीलते हैं, वे मिथ्यात्व में पड़ कर गुरुओं की आशातना करते हैं। क्योंकि- कोई कोई स्वभाव ही से मंद प्रकृति होते हैं तथा वृद्ध हो जाने पर भी वे श्रुत बुद्धि से युक्त हैं तथा (कम पढ़े हुए होने पर भी) आचारवान् और गुण में सुस्थित रहते हैं। अतः उनकी हीलना करने पर वे अग्नि के समान भस्मसात् करते हैं"।

जो नाग को बुड्ढा हुआ जानकर छेड़े तो उनको अहितकारी हो जाता है। वैसे ही आचार्य की हीलना करने से भी मंद-जन जन्म मार्ग में पड़ते हैं। यहां जो मूलगुणों से रहित हो सो गुरु गुणरहित जानो। कोईक गुण से हीन हो सो नहीं माना जाता। यहां चंडरुद्राचार्य राजा का उदाहरण है। इस प्रकार के आगम के वचनों का अनुसरण करके मूलगुण शुद्ध गुरु हो उसे नहीं छोड़ना चाहिये।

किसी समय गुरु कुछ प्रमादी जान पड़े, तो मधुर उपक्रम से अर्थात् सुखकर उपाय से अर्थात् अंजली जोड़, प्रणाम करके प्रिय वचन बोलना कि—" बिना उपकार के परहित करने वाले आपने हमको गृहवास की पाश में से मुक्त किया, यह बहुत उत्तम किया, अतः अब उत्तरोत्तर मार्ग में प्रवृत्त करके, इस भयंकर भव-कांतार से हमको पार कीजिये।" इस भांति उत्तेजित करके उन्हें पुनः यथोक्त मार्गानुसारी अनुष्ठान में प्रवृत्त करना चाहिये।

ऐसा क्यों कहते हो, उसका कारण कहते हैं—

पत्तो सुसीससद्दो एवं कुणंतेण पंथगेणावि ।
गाढप्पमाइणोवि हु सेलगसूरिस्स सीसेण ॥ १३२ ॥

मूल का अर्थ—गाढ प्रमादी शेलकसूरि के शिष्य पंथक ने भी ऐसा करते हुए सुशिष्य शब्द का विशेषण प्राप्त किया।

टीका का अर्थ— प्राप्त किया अर्थात् उपलब्ध किया, सुशिष्य ऐसा शब्द अर्थात् विशेषण— वह इस प्रकार अर्थात् पुनः भी चारित्र में प्रवृत्ति कराते हुए पंथक ने अर्थात् पंथक नामक मंत्री-पुङ्गव साधु ने भी – अपिशब्द से उसके समान दूसरों ने भी उक्त विशेषण प्राप्त किया। क्योंकि कहा है किः—

"जो कदापि गुरु शिथिल हो जावें तो सुशिष्य उसको भी युक्ति-युक्त मधुर वचनों से पुनः मार्ग में लाता है। यहां शैलक और पंथक का उदाहरण है" ।

उसीका विशेषण देते हैं—गाढ प्रमादी अर्थात् अतिशय शिथिल शैलकसूरि का वह शिष्य था। इस प्रकार गाथा का अक्षरार्थ है। भावार्थ कथानक पर से जानना चाहिये।

शैलक-पंथक की कथानक इस प्रकार है:—

पर्वत के शिखर समान कविकुल रूप कलापि (मोरों) से कलित शैलकपुर नामक नगर था। वहां प्रताप और स्वच्छ कीर्ति के शैल (पर्वत) समान शैलक नामक राजा था। उसकी सद्धर्म के कार्य में निष्कपट पद्मावती नामक रानी थी और सन्नीति रूप नागरवेल के मंडप समान मंडक नामक पुत्र था। उसके पंथकादि पांच सौ मंत्री थे। वे चारों शुद्धबुद्धि की संसिद्धि के पंथ समान थे और उसीसे राज्य भार उठाने में तत्पर थे। शैलक राजा थावच्चाकुमार आचार्य से गृहि-धर्म अंगीकृत करके चिरकाल

त्रिवर्ग साधते हुए राज्य करता था। पश्चात् एकसमय उसने थावच्चाकुमार प्रभु के पदवर्त्ती शुक-गुरु के पास पंथक आदि पाँच सौ मंत्रियों सहित मंडक पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर, पाप दूर करके एकादश अंग सीखे। तब शुक मुनीश्वर ने जिन-समय की विधी से उसे पंथक आदि पाँच सौ मुनियों का नायक बनाया। पश्चात् महात्मा शुकसूरि समय पर आहारत्याग करके श्री विमलाचल पर एक सहस्र मुनियों सहित मुक्ति को गये।

अब शैलक राजर्षि अनुचित आहार आदि आचरने के दोष से दाहज्वर से पीड़ित होकर शैलकपुर में आये। वहाँ प्रशस्त उद्यान में श्रेष्ठ भूमिभाग में उनका समवसरण हुआ सुनकर हर्ष से मंडक राजा उनको वन्दन करने के लिये निकला।

वह उनको वन्दन आदि कर, शरीर का वृत्तान्त जान कर विनन्ती करने लगा कि-हे पूज्य! मेरे घर यानशाला में पधारिए ताकि मैं यथोचित आहार, पानी तथा औषधियों से आपके धर्म शरीर की रक्षा के हेतु चिकित्सा करा सकूं। क्योंकि कहा है कि-"धर्म सहित शरीर को सम्हाल से रखना चाहिये। क्योंकि-पर्वत से जैसे पानी टपकता है, वैसे ही शरीर से धर्म टपकता है"।

गुरु ने यह बात मान ली, जिससे श्रेष्ठ वैद्यों ने स्निग्ध मधुरादिक आहार से उत्तम चिकित्सा करी। वैद्यों की कुशलता से तथा पथ्य, औषध, पानी भली-भांति मिल सकने से थोड़े ही दिनों में वे निरोग और बलवान हो गये। किन्तु वे स्निग्ध आहार आदि में अत्यन्त मुग्ध होकर सुखशील हो गये और ग्रामान्तर का विहार करने को उद्यत नहीं हुए। उनको अनेक बार कहा, पर वे प्रमाद से नहीं विरमे। तब पंथक सिवाय शेष मुनि एकत्रित हो कर, इस प्रकार विचार करने लगे—

कर्म बहुत चिकने, कुटिल व वज्र समान कठिन होवे, तो सचमुच ज्ञानवन्त पुरुष को भी उन्मार्ग में ले जाते हैं। कर्मों का बल देखो कि- श्रुत के बल से हथेली में रहे हुए मोती के समान जगत को जानते हुए भी उसमें पड़ते हैं। राज - ऋद्धि छोड़ मोक्षार्थी हो ये प्रव्रजित हुए हैं, तथापि इस समय अति प्रमाद से इस प्रयोजन को भूल गये हैं।

ये सूत्र के अवसर पर सूत्र नहीं देते, पूछने वालों को अर्थ नहीं कहते और आवश्यकादिक की चिन्ता छोड़, निद्रा को अधिक पसन्द करते हैं। वैसे ही गच्छ को सारण, वारण, प्रतिचोयना आदि लेशमात्र भी नहीं कहते, अतः सारणा रहित गच्छ में क्षण भर भी रहना उचित नहीं।

आगम में भी कहा है कि— जहां सारणा, वारणा और प्रति-चोयना न हो, उस गच्छ को अगच्छ मानकर संयमार्थियों ने छोड़ देना चाहिये। वैसे ही यह अपने धर्माचरण का हेतु होने से बहुत उपकारी है, अतः इसे छोड़ना कि पकड़ रखना, सो अपन स्पष्टतः जान नहीं सकते अथवा कारण बिना निरयवास करने का अपने को क्या काम है? अतः इन गुरु की वैयावृत्य के लिये पंथक साधु को यहां छोड़कर व इनकी आज्ञा लेकर अपन सब ने उद्यत होकर विचरना चाहिये और जब तक यह अपने को पहिचाने, तब तक कालहरण करना उचित है।

यह सोच पंथक साधु को गुरु के पास छोड़कर वे सर्व मुनि अन्यत्र सुखपूर्वक विचरने लगे। अब पंथक मुनि भी गुरु का यथोचित वैयावृत्य करते तथा उत्तम योग में युक्त रहकर अपनी क्रिया भी सदैव परिपूर्ण रीति से करते रहते थे। पश्चात् कार्तिक चातुर्मास के दिन आचार्य स्निग्ध मधुर खाकर सर्व काम छोड़कर सर्वांग से लम्बे होकर सोते थे।

इतने में आवश्यक कर खामणा के निमित्त पंथक साधु ने विनय रीति में निपुण होकर मस्तक से उनके पैरों में स्पर्श किया। तब राजर्षि क्रुद्ध होकर बोले कि– आज यह कौन निर्लज्ज मेरे पैर को छुकर मेरी निद्रा में बाधा पहुँचाने को उद्यत हुआ है ? तब सूरि को क्रुद्ध हुए देख पंथक मधुर वाणी से बोला कि– चौमासी खामणा करने के हेतु मैंने आपको छुआ है। अतः एक अपराध क्षमा करिये, पुनः ऐसा नहीं करूंगा। क्योंकि-जगत में उत्तम पुरुष क्षमाशील होते ही हैं।

पंथक मुनि का यह वचन सुनते ही सूरि का अज्ञान इस प्रकार नष्ट हो गया जैसे कि– सूर्योदय से अंधकार नष्ट हो जाता है। अब वे अपने को बारम्बार निन्दित कर विशेष संयम में उद्यत हो शुद्ध परिणाम से पंथक मुनि को बारंबार खमाने लगे पश्चात् दूसरे दिन मंडक राजा को पूछकर वे दोनों शैलकपुर से निकल कर उग्र विहार से विचरने लगे। यह समाचार सुन शेष मुनिगण भी उनको आ मिले। अब वे विधिपूर्वक चिरकाल तक विचरकर पुण्डरीकगिरि (सिद्धगिरि) पर चढ़े।

वहां दो मास का अनशन कर शैलक महर्षि शैलेशीकरण कर पांच सौ साधुओं सहित मुक्ति पद को प्राप्त हुए।

इस प्रकार उज्वल चारित्र वाला पंथक साधु का निर्मल वृत्तांत सुनकर, हे साधु जनों ! तुम सम्यक् ज्ञानादिक गुण-युक्त गुरुकुल को इस भांति यथारीति सेवन करो कि– जिससे वास्तविक संयम में शिथिल होते गुरु को भी किसी समय स्फुरित गुण-श्रेणीवान् होकर संसार पार कर सको।

इस प्रकार शैलक-पंथक साधु का कथानक पूर्ण हुआ।

ऐसा करने से साधुओं को क्या लाभ होता है, सो कहते हैं:—

एवं गुरुबहुमानो कयन्नुया सयलगच्छगुणवुड्ढी ।
अणवत्थापरिहारो हुंति गुणा एवमाईया ॥१३३॥

मूल का अर्थ—ऐसा करने से गुरु का बहुमान, कृतज्ञता, सकल गच्छ में गुण की वृद्धि, और अनवस्था का परिहार आदि गुण होते हैं।

टीका का अर्थ—ऐसे अर्थात् मूलगुण सहित गुरु को नहीं छोड़ते, तथा उन्हें सन्मार्ग में उद्यम कराते यति को गुरु का बहुमान अर्थात् मानसिक प्रीति का अतिशय-दर्शाव होता है। तथा कृतज्ञता हुई मानी जाती है और पुरुष का यह गुण लोक में भी प्रधान माना जाता है। कहावत है कि:-वही कलाकुशल है, वही पण्डित है और वही सकल शास्त्र का ज्ञाता है कि-जिसमें सब गुणों में श्रेष्ठ कृतज्ञता विद्यमान है। तथा लोकोत्तर में भी यह गुण, इक्कीस गुणों ही में आया हुआ है। तथा सकल गच्छ के गुणों की वृद्धि याने अधिकता किया माना जाय सो। इस प्रकार कि—भलीभांति आज्ञा में चलने वाले गच्छ के ज्ञानादि गुणों को गुरु बढ़ाता ही है। परन्तु जो वे शिष्य पढ़ाने, गुणाने तथा भक्त-पान से पोषण करने पर पंख आये हुए हंस के समान दशों दिशाओं में भाग जावे तो, उनको खलुक प्राय जानकर गुरु केवल शिक्षा देते हैं वैसा नहीं किन्तु कालिकाचार्य की तरह त्याग भी देते हैं। तथा अनवस्था अर्थात् मर्यादा की हानि उसका परिहार किया माना जाता है, अर्थात् कि-जो एक गुरु को उनके मूलगण रूप महाप्रसाद धारण करने में स्तम्भ रूप होते हैं उसको अल्प दोष से दुष्ट होने के कारण छोड़ देता है। उसको दूसरा भी नहीं रुचता क्योंकि-काल का अनुभव ही ऐसा है कि-सूक्ष्म दोष प्रायः परिहरना कठिन है, जिससे अति अरोचकता से " स्वच्छन्द

टीका का अर्थ—इतरथा अर्थात् महाव्रतरूप महान् भार उठाने में धवल गुरु का त्याग करते उक्त गुणों का विपर्यय होता है, अर्थात् अबहुमान, अकृतज्ञता, सकल गच्छ के गुणों की अवृद्धि और अनवस्था आदि दोष होते हैं, तथा आत्मोत्कर्ष अर्थात् अपने में सावधानता का अभिमान या जो अनर्थ की परम्परा का कारण है। सो गुरुकुल को त्याग करनेवाले को होता है। तथा लोगों को अप्रत्यय अर्थात् कि—इन परस्पर में अलग हुए और एक दूसरे के अनुष्ठान को दूषित ठहराने वालों में कौन सत्य व कौन असत्य सो ज्ञात नहीं होता। ऐसा अविश्वास होता है। भला, उससे क्या दोष है? उसका यह उत्तर है कि, उससे बोधि—विघात अर्थात् परभव में जिनधर्म की प्राप्ति का अभाव असत्य सेवियों को होता है, तथा उसके निमित्त भूत यति को भी बोधि—विघात होता है।

आदि शब्द से सम्यक्त्व लेने में अभिमुख व चारित्र लेने में अभिमुख हुए को भावपात होता है (भाव गिर जाता है) ये दोष गुरु त्यागकारी को होते हैं। तथा जो प्रमादजनित थोड़े से दोष-लव से गुरु परिहरणीय होते हों तो सबों को वर्जनीयत्व प्राप्त होगा। इसीसे प्रवचन में पांच प्रकार के निर्ग्रंथ कहे हैं।

अन्तरग्रंथ सो मिथ्यात्वादिक है और बाह्यग्रंथ सो धनादिक है। इन दो से जो निर्गत हो सो निर्ग्रंथ है। मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्यादि षट्क और क्रोधादि चतुष्क इस प्रकार चवदह अभ्यंतर ग्रंथ हैं। धन, धान्य क्षेत्र, कुप्य, वास्तु, द्विपद, सोना, चांदी, चतुष्पद ये नव बाह्यग्रंथ हैं। और पांच निर्ग्रंथ इस प्रकार कि-पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक। पुलाक दो प्रकार का है:—लब्धिपुलाक और आसेवनापुलाक।

अन्यत्र भी कहा है कि—असार धान्य पुलाक कहलाता है, अतः उसके समान जिसका चरित्र हो, उसे पुलाक जानो। वह

लब्धि और आसेवना से दो प्रकार का है। लब्धिपुलाक संघादि के कार्यार्थ चक्रवर्ती की सेना को भी चूर डालता है, और इंद्र के समान अधिक श्री (कांति) वान् होता है। आसेवनापुलाक पांच प्रकार का है।

दर्शनपुलाक दर्शन को शंका आदि से, और ज्ञानपुलाक ज्ञान को कालादिक से असार करता है। और चरणपुलाक मूल तथा उत्तरगुण की प्रतिसेवा करता है। लिंगपुलाक वह है कि–जो निष्कारण पराया लिंग स्वीकार करे और यथासूक्ष्मपुलाक वह है कि– जो किंचित् प्रमाद से मन से अकल्प का ग्रहण करता है।

उपकरणबकुश और शरीरबकुश इस भांति बकुश दो प्रकार का है। उन दोनों के पुनः पांच प्रकार हैं:—आभोग, अनाभोग, संवृत, असंवृत और सूक्ष्म। आसेवनाकुशील और कषायकुशील इस भांति कुशील के दो भेद हैं। उन दोनों के पुनः पांच प्रकार हैं:—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और यथासूक्ष्म।

यहां ज्ञानादिकुशील ज्ञान आदि से आजीविका करता है, और यथासूक्ष्म वह है जो "यह तपस्वी है" ऐसी प्रशंसा से प्रसन्न होता है, सो जानो। उपशामक और क्षपक इस प्रकार निग्रंथ दो प्रकार का है। उन दोनों के पांच भेद हैं:—प्रथमसमय, अप्रथम, चरम, अचरम और यथासूक्ष्म।

क्षपक उत्कृष्ट से एक सौ आठ होते हैं, और उपशामक चौपन होते हैं। जघन्य से एक, दो वा तीन होते हैं। शुभ–ध्यानरूप जल से कर्ममल को क्षय कर विशुद्ध हो, सो स्नातक। वह दो प्रकार का है:–सयोगी और अयोगी। कुशील मूल और उत्तर गुण इन दोनों की प्रतिसेवा–सेवन करता है। बकुश उत्तरगुण में प्रतिसेवा–सेवन करता है और शेष प्रतिसेवारहित है।

इनमें निर्ग्रंथ तथा स्नातक निश्चयतः अप्रमादी होते हैं। परन्तु वे तो कदाचित् ही होते हैं. अर्थात् कि श्रेणी पर चढ़ते और सयोगी अयोगी रूप दो गुणस्थानों में होते हैं, जिससे वे तीर्थ धारण करने के हेतु नहीं। पुलाक भी जब कभी लब्धि होता है तभी होता है। इसलिये ये तीनों संप्रति विच्छिन्न हुए हैं। जिससे बकुश और कुशील ही निरन्तर तीर्थ प्रवाह के हेतु हैं। इसीसे कहा है कि—

"निर्ग्रन्थ, स्नातक और पुलाक इन तीनों का विच्छेद है। बकुश, कुशील साधु तीर्थ पर्यन्त होते रहेंगे"। अब इनको तो प्रमादजनित दोष अवश्य लगता है। अतः जो उससे साधु वर्जनीय होय तो सब वर्जनीय हो जावेंगे। यह बात मन में लाकर सूत्रकार कहते हैं—

बकुसकुसीला तित्थं दोसलवा तेसु नियमसंभविणो।
जइ तेहिं वज्जणिज्जो अवज्जणिज्जा तओ नत्थि ॥१३५॥

मूल का अर्थ— बकुश और कुशील तीर्थ हैं, और उनमें तो दोष के लव अवश्य संभव हैं। अतः जो उनके द्वारा वे वर्जनीय हों तो अवर्जनीय कोई भी न रहेगा।

टीका का अर्थ— उपरोक्त बकुश और कुशील तीर्थ अर्थात् 'भामा सो सत्यभामा' इस न्याय से सर्व तीर्थकरों के तीर्थसंतान करने वाले होते हैं। इसीसे उनमें दोष लव अर्थात् सूक्ष्म दोष निश्चयतः संभव हैं। क्योंकि— उनके प्रमत्त और अप्रमत्त नामक अंतमुहूर्त काल के दो गुणस्थानक हैं। उसमें जब प्रमत्त-गुणस्थान में वर्तते हों, उस समय साधु को प्रमाद का सद्भाव कायम रहने से सूक्ष्मदोष लव अवश्य लगता है। परन्तु जब तक सातवें प्रायश्चित का अपराध हो तब तक वह चारित्रीय ही है, तदनंतर अचारित्रीय होता है। कहा भी है कि—

"जिसको जहां तक तप प्रायश्चित आता है, वहां तक वह एक व्रत का भी अतिक्रम नहीं करता। किन्तु मूल प्रायश्चित आने पर एक व्रत का अतिक्रम करते भी पांचों व्रतों का अतिक्रम जानो"।

इस प्रकार बकुश और कुशीलों में दोषलव नियमभावी है, इससे जो उससे यति वर्जनीय हो तो अवर्जनीय कोई भी न रहेगा, और उसके अभाव में तीर्थ का भी अभाव हो जावेगा।

इस उपदेश का फल कहते हैं—

इय भावियपरमत्था मज्झत्था नियगुरुं न मुंचंति।
सव्वगुणसंपओगं अप्पाणम्मि वि अपिच्छंता ॥१३६॥

मूल का अर्थ—इस प्रकार परमार्थ को समझे हुए मध्यस्थ-जन अपने गुरु को नहीं छोड़ते। क्योंकि-सर्व गुणों का योग अपने में भी वे नहीं देखते।

टीका का अर्थ— इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से परमार्थ अर्थात् वास्तविक बात को जानने वाले अर्थात् मन में परिणमित करने वाले और मध्यस्थ अर्थात् अपक्षपाती जन अपने गुरु जो कि-मूल-गुण रूप मोती के सागर हैं उनको बिलकुल नहीं छोड़ते, क्योंकि-सर्वगुणसंप्रयोग अर्थात् समस्त गुणों की सामग्री अपने में भी नहीं दिखती तथा गुरु का त्याग करने वाला निश्चयतः गुरु की अवज्ञा करता है और उससे अनर्थ होता है। सो आगम के प्रमाण से बताते हैं—

एवं अवमन्नंतो वुत्तो सुत्तंमि पावसमणु त्ति।
महमोहबंधगो वि य खिसंतो अपडितप्पंतो ॥१३७॥

मूल का अर्थ— ऐसे गुरु की हीलना करने वाले, निन्दा करने वाले तथा उनकी सम्हाल नहीं लेने वाले को सूत्र में पाप-श्रमण तथा महामोह का बांधने वाला कहा है।

टीका का अर्थ— इसे याने प्रस्तुत गुरु को अवमानने वाला अर्थात् हीलने वाला, साधु सूत्र में अर्थात् श्री उत्तराध्ययनसूत्र में पापश्रमण अर्थात् नीचयति कहा हुआ है। वह सूत्र यह है—

"जिन आचार्य तथा उपाध्यायों ने श्रुत और विनय सिखाया उन्हीं की जो बाल निन्दा करता है, सो पापश्रमण कहलाता है।

आचार्य और उपाध्याय की जो भली-भांति सेवा-भक्ति न करे, पूजा न करे और स्तब्ध हो रहे, सो पापश्रमण कहलाता है" तथा उनकी खिंसा याने निंदा करता हुआ तथा प्रतितर्पण अर्थात् वैयावृत्य आदि में आदर न करता हुआ महामोह अर्थात् भारी मिथ्यात्व भी बांधता है।

अपिशब्द सूत्रान्तर का प्रमाण बताता है। क्योंकि-सूत्रान्तर में अर्थात् आवश्यक नियुक्ति में तीस महामोहनीय के स्थानों में इस प्रकार कहा जाता है। "जो मन्द-बुद्धि पुरुष आचार्य और उपाध्याय की निन्दा करता है तथा वह ज्ञानियों की भली-भांति वैयावृत्य भक्ति नहीं करता, सो महामोह बांधता है"। यह क्रिया पद वहां अन्त में कहा हुआ है। कोई पूछे कि- गुरु के असमर्थ होते उनका शिष्य जो अधिकतर यतना, तप तथा श्रुताध्ययन आदि करे, तो वह युक्त है, कि- गुरु की लघुता होने के कारण से अयुक्त है?

इसका उत्तर यह है कि— गुरु की अनुज्ञा से वह युक्त ही है। क्योंकि-वह तो गुरु के गौरव ही का कारण है, क्योंकि-शिष्य के अधिक गुणी होते गुरु का गौरव ही होता है। श्री वज्रस्वामी तथा सिंहगिरि गुरु के समान।

वज्रस्वामी की कथा इस प्रकार है—

पूर्वकाल में सिंहगिरिसूरि का विनीत और अज्ञान रूप महा-पर्वत को तोड़ने में वज्र समान वज्र नामक शिष्य था। उसने बालक होते हुए बाल-बुद्धि रहित होकर, साध्वियों के उपाश्रय में रहते हुए पदानुसारी लब्धि से ग्यारह अंग सीखे।

वह आठ वर्ष का होने पर गच्छ में रहकर जो-जो पूर्वगता-दिक पठन सुनता सो कौतुक ही में सीख लेता था। वज्र को जब स्थविर ' पढ़ '' ऐसा कहते थे तब वह कुछ अस्फुट उच्चारण करता हुआ दूसरे पढ़ने वालों को सुनता था।

एक वक्त दिन के समय साधु भिक्षा के लिये गये थे और गुणग्राम से महान माननीय गुरु भी बहिर्भूमि को गये थे। इतने में उस वसति में वज्र अकेला था। तो उसने-कपड़े की पोटली को साधु मंडली में बिछाये और स्वयं उनके बीच में बैठकर मेघ के समान गंभीर वाणी से ग्यारह अंग तथा पूर्वगत श्रुत की वाचना देने लगा।

इतने में आचार्य भी आ गये, वे गलबल होती सुनकर विचारने लगे कि– क्या भिक्षु गण भिक्षा लेकर शीघ्र ही आ पहुँचे हैं? ऐसा विचार करते हुए शीघ्र ही उन्हें मालूम हुआ कि— ओ हो! यह तो वाचना देते हुए वज्रमुनि की ध्वनि है।

क्या यह पूर्व-भव में सीखा होगा? वा गर्भ ही में सीखा होगा? इस प्रकार विस्मय से बारम्बार सिर नचाते हुए चिन्तवन करने लगे। पश्चात् उन्होंने विचार किया कि–हमारे सुनने से इसे घबराहट न हो, यह सोच धीरे से पीछे हट कर उच्चस्वर से उन्होंने निसिही करी। जिसे सुन सुनन्दासुत (वज्र) ने तुरन्त आसन से उठ फुर्ती से सब कपड़े की पोटलियां जहां के तहां धर दिये। पश्चात् वह सन्मुख आ गुरु का दंड ले पग प्रमार्जन करके प्रासुक पानी से प्रक्षालन करने लगा।

तब आचार्य विचार करने लगे कि– यह बालक होते हुए भी विद्यावृद्ध है, इसलिये अन्य साधु अनजान रहकर उसकी अवज्ञा करें, वैसा न होना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने रात्रि को शिष्यों से कहा कि– कल हमको अमुक गांव को जाना है और वहां दो-तीन दिन रहना पड़ेगा। तब योगप्रपन्न मुनि बोले कि– हमको वाचना कौन देगा? आचार्य ने कहा कि– वज्र देगा।

उन मुनियों ने सरल और विनीत होने से सहज ही में यह बात मान ली। क्योंकि भद्र हाथी के समान सज्जन (शिष्य) गुरु की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करते।

अब गुरु के रवाना होने पर प्रातःकाल अनुयोग की सामग्री कर, उन्होंने वज्रर्षि को गुरु के समान भक्ति से निषद्या (आसन) पर बैठाया। तब वज्र मुनि ज्ञान-रूप कंद की वृद्धि करने में मेघ समान होकर क्रमशः उन महर्षियों को आलापक देने लगे। तब जो मंद-बुद्धि थे उनके प्रति भी वज्र की वाणी सफल होने लगी। यह नवीन आश्चर्य देखकर सकल गच्छ विस्मित हुआ।

इस समय मुनि-गण पहिले सीखकर ठीक किये हुए आलापकों को संवाद देखने के हेतु पूछने लगे। तब वज्र ने उनकी उसी भांति व्याख्या करी तथा जो आचार्य से जितना अनेक वाचनाओं द्वारा पढ़े थे, वे वज्र मुनि से उतना एक ही वाचना में सीखने लगे।

अब साधु हर्षित हो परस्पर कहने लगे कि– जो गुरु देर से आवें, तो वज्र से यह श्रुतस्कंध शीघ्र समाप्त हो जावे तथा अपने को धन्य और कृत-कृत्य होना चाहिये तथा अपने पुण्य जागृत हुए हैं कि– अपन ने वज्र वाचनाचार्य प्राप्त किये हैं। इस पृथ्वी

पर अपने श्रीमान् गुरु तो सबसे अधिक भाग्यवान् हैं कि- जिनके ऐसा सर्व श्रुत का निवासघर और विजयी शिष्य है। इस शिष्य के हाथ का सहारा पाकर श्री गुरु की वृद्ध हुई कीर्ति अब शनैः-शनैः (अखिल) जगत् में फिरेगी।

अब गुरु ने सोचा कि- इतने दिनों में मुनियों को वज्र के गुण ज्ञात हो गये होंगे। यह सोच वे हर्षित हो, वहां वापस आये तब भक्तिपूर्वक मुनियों ने उनको वन्दना करी, तो सूरि के स्वाध्याय के निर्वाह के विषय में पूछने पर, उन्होंने सब वृत्तान्त कहा और पुनः गुरु को नमन करके वे विनन्ती करने लगे कि- हे भगवन्! वज्र ही हमारे वाचनाचार्य होवें।

गुरु बोले कि- समय पाकर यह सबका गुरु होगा। अभी यह बालक है, तथापि गुणों से वृद्ध होने से अवश्य माननीय है। इसीसे हम परग्राम गये थे और वज्र को तुम्हें आचार्य रूप में सौंपा था कि- जिससे तुम इसके गुणों को जानो।

तथापि अभी इसको वाचनाचार्य की पदवी देना उचित नहीं, कारण कि- अभी इसने कानों से श्रुत ग्रहण किया है, गुरु के मुख से श्रुत ग्रहण नहीं किया। पश्चात् श्रुतसारज्ञ गुरु " अमुक वय में सिखाना उचित है " इस कल्प को छोड़ कर उत्सारकल्प करके उसे अर्थ सहित सिखाने लगे।

तब गुरु-साक्षी से कुशाग्र बुद्धि वज्र मुनि गुरु के दिये हुए सर्व श्रुत को मातृ का पद (वर्णमाला) के समान ग्रहण करने लगे। इस भांति वज्रकुमार ऐसे श्रुत ज्ञानी हुए कि- जिससे वे सिंह-गिरि के भी चिरकाल के संदेह रूप रज को हरने के लिये पवन समान हो गये। पश्चात् समयानुसार आचार्य पद पाकर भवनाशक

कुमति रूप अंधकार का विध्वंस करने के लिये सूर्य समान, श्रेष्ठ लब्धियों के भंडार और दश पूर्व के धारण करने वाले, श्रीमान् वज्र मुनीश्वर चिरकाल तक जिन-शासन को खूब दीप्त करने लगे।

इस प्रकार वज्रस्वामी की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार गुणाधिक शिष्य से गुरु का गौरव रहता है तो भी उस शिष्य ने गुणाधिक होकर भी गुरु अपने से हीन है, यह सोच कर उनकी अवमानना न करना चाहिये। वही कहते हैं—

सविसेसंपि जयंतो तेसिमवन्नं विवज्जए सम्मं।
तो दंसणसोहीओ सुद्धं चरणं लहइ साहू ॥१३८॥

मूल का अर्थ— सविशेषपन से उद्यत होते भी जो शिष्य उनकी अवज्ञा का भली-भांति वर्जन करता है, तो दर्शनशुद्धि होने से वह साधु शुद्ध चारित्र पाता है।

टीका का अर्थ— सविशेषतः अर्थात् सरस रीति से किन्तु (अपिशब्द से समान रीति से वा हीन रीति की बात तो दूर रहे) यतमान अर्थात् तदावरणी कर्म के क्षयोपशम से सूत्रार्थ के अध्ययन में तथा तपश्चरण आदि उत्तम अनुष्ठान में प्रयत्नशील शुद्ध परिणाम वाला भाव साधु गुरु की अभ्युत्थान आदि न करने रूप अवज्ञा का भली-भांति वर्जन करता है और उससे दर्शन-शुद्धि के कारण से वह भाव मुनि अकलंक चारित्र को पाता है।

यहां आशय यह है कि—सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र के कारण है। क्योंकि आगम में इस प्रकार कहा है कि— सम्यक्त्ववंत ही को ज्ञान होता है और ज्ञान विना चारित्र के गुण होते नहीं, अगुणी को मोक्ष नहीं और मोक्षहीन को निर्वाण नहीं।

अव सम्यक्त्व तो गुरु का वहुमान करने वाले ही को होता है, इससे दुःकरकारी होकर भी उनकी अवज्ञा न करते उनका आज्ञाकारी होना चाहिये। क्योंकि कहा है कि—षष्ठ, अष्टम, विगेरे तथा अर्धमासक्षपण और मासक्षपण करता हुआ भी जो गुरु का वचन नहीं माने तो अनन्त संसारी होता है।

अव साधु के लिङ्गों का निगमन करते हुए उसका फल कहने की इच्छा से कुछ कहते हैं—

इय सत्तलक्खणधरो होइ चरित्ती तओ य नियमेण।
कल्लाणपरंपरलाभ-जोगओ लहइ सिवसुक्खं ॥१३९॥

मूल का अर्थ—इस प्रकार सात लक्षण को धारण करने वाला चारित्रीय होता है और वही निश्चयतः कल्याण-परम्परा के लाभ के योग्य से शिवसुख पाता है।

टीका का अर्थ—इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थ है, जिससे ऐसे अर्थात् पूर्वोक्त रीति से सकल मार्गानुसारिणी क्रिया— धर्म में प्रवर श्रद्धा-सरल भाव से प्रज्ञापनीयता- क्रिया में अप्रमाद, शक्यानुष्ठान का आरम्भ-सख्त गुणानुराग और पूर्णतः गुरु की आज्ञा का आराधन। इन सात लक्षणों का धारण करने वाला हो, वह चारित्री अर्थात् भाव साधु होता है। वह भाव साधु ही- न कि-दूसरा, कल्याण-परम्परा अर्थात् सुदेवत्व, सुमनुष्यत्व आदि रूप उसका लाभ अर्थात् प्राप्ति उसके योग से अर्थात् सम्बन्ध से शिवसुख अर्थात् सिद्धि सुख पाता है।

श्रावक और साधु सम्बन्धी ऐसा दो प्रकार का धर्मरत्न कहा। अव कौन, कैसे इसे कर सकते हैं, सो कहते हैं—

दुविहंपि धम्मरयणं तरइ नरो घित्तुमविगलं सोउ।
जस्सेगवीसगुणरयण-संपया सुत्थिया अत्थि ॥१४०॥

मूल का अर्थ—दोनों प्रकार के धर्मरत्न को भली-भांति वही मनुष्य ग्रहण कर सकता है। जिसके पास इक्कीस गुण की संपदा कायम हो।

टीका का अर्थ—एक प्रकार के नहीं, बल्कि दोनों प्रकार के धर्मरत्न को अविकल अर्थात् पूर्णतः वही नर (यहां नर शब्द जातिवाचक है, जिससे पुरुष ही नहीं, किन्तु नरजाति का प्राणी समझो) ग्रहण कर सकता है। जिसको श्रीप्रभ महाराजा के समान इक्कीस गुणरत्न संपत् अर्थात् "अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो" इत्यादि शास्त्र पद्धति में कहे हुए इक्कीस गुण रूप माणिक्यों की विभूति सुस्थित हो अर्थात् कि दुर्बोध आदि से अदूषित होने से उपद्रव रहित हो।

कोई पूछेगा कि— इक्कीस गुण वाला हो, वह धर्म-रत्न के योग्य है, यह तो पूर्व में कहा ही है, तो पुनः यह क्यों कहते हो?

सत्य है, पूर्व में केवल योग्यता ही कही है, जैसे कि बाल्यावस्था में वर्त्तमान राजपुत्र भी राज्य को योग्य कहलाता है। और अब उसे समर्थ करना भी बताते हैं जैसे कि-बड़ा हुआ राजपुत्र इतनी उमर में राज्य कर सकता है।

श्रीप्रभ महाराजा की कथा इस प्रकार है:—

राजमहलों की उज्वल प्रभा तथा निरंतर प्रसरित धूप के धूम्र से गंगा तथा यमुना के संगम को जीतने वाली विशाला नामक नगरी थी। वहां जिसका जाय के फूल की खिली हुई कलिका के समान निर्मल यश देवलोक पर्यन्त (पहुँचता) था,

तथा जिसका शौर्य सदैव प्रबल शत्रुओं के कुलक्षय पर्यन्त (पहुँचता) था। जिसका त्याग (दान) मांगने वालों की इच्छा पर्यंत (पहुँचता था) तथा जिसकी भूमि समुद्र पर्यंत पहुँचती थी, और जिसकी भक्ति जिनेश्वर के दो चरण कमल को नमन करने तक पहुँचती थी। और जिसके अन्य दोषों के बल को तोड़ने वाले शेष गुण निरवधि थे, ऐसा राजा श्रीचंद्र उस नगरी का पालन करता था।

कमल में रहने वाली और सदैव रक्त चरण वाली दो उज्वल पंख वाली हंसनी के समान राजा के हृदय रूप कमल में रहने-वाली सदाचरण के रागवाली और उभय पक्ष से पवित्र हंसी नामक उसकी रानी थी। उनके समस्त शत्रुओं को हराने वाले दो पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ का नाम श्रीप्रभ और छोटे का नाम प्रभा-चन्द्र था।

बड़ा कुमार गांभीर्य गुण का सागर था, रूप से काम को जीतने वाला था, स्वभाव ही से सौम्याकार था और लोकप्रिय गुणरूप मणि का करंड था। अक्रूर परिणति रूप झरने वाली नदी का हिमालय था, शिवसुख के घातक पातक के डर रूप कमल को विकसित करने के हेतु सूर्य समान था। शठता रूप लता को काटने के लिये दराते के समान था, दाक्षिण्य रूप स्वर्ण का मेरु था, अकार्य से सदा लज्जारूप स्फुरित भौंरी को रहने के लिये कमलिनी के समान था।

जीवदया रूप कुमुदनी के लिये चन्द्र समान था, माध्यस्थ्य-रूप हाथी का विन्ध्याचल था, गुणरागी जनों का मुकुट था, सुकथा कहने के मार्ग का पथिक था, जिनधर्म में कुशल सुपक्ष रूप कक्ष (घास) को बढ़ाने में मेघ समान था, अत्यन्त विस्तृत दीर्घदर्शित्व रूप ताराओं का आकाश था।

जिनेश्वर प्रणीत आगम के विशेष विज्ञान का क्रीड़ाघर समान था, सद्बुद्धि वृद्ध जनों के सेवन रूप सरोवर में हंस समान था, विनय नीति में चित्त रखने वाला था, कृतज्ञतारूप नदी का सागर था, परहित करने में उद्यत रहने वाला था, और करने के कामों में यथोचित् लक्ष देने वाला था।

वहां एक दिन भुवनभानु नामक केवलज्ञानी गुरु पधारे, उनको नमन करने के लिये राजा, पुत्र और सामन्तादिक को साथ लेकर वहां आया। वह तीन प्रदक्षिणा कर महान् भक्तिपूर्वक गुरु को नमन करके उचित स्थान में बैठा। तब यतीश्वर देशना देने लगे।

इस अनन्त भवरूप वन में भटकता हुआ जीव अनेक दुःख सहता हुआ जाति और कुल आदि से युक्त मनुष्य भव को महा-कठिनता से पाता है। उसे पाकर हे भव्यों! तुम सकल दुःख नाशक जिनधर्म करो। वह धर्म दो प्रकार का है:-यतिधर्म और गृहिधर्म। वहां पहले यतिधर्म में पांच यम (महाव्रत) हैं उन प्रत्येक की पाँच पाँच भावनाएँ पालने की हैं। वे पांच यम इस प्रकार हैं:—हिंसा का त्याग, अलीक का त्याग, स्तेय का त्याग, अब्रह्म का त्याग और परिग्रह का त्याग। ईर्या-आदान और एषणा समिति, मनोगुप्ति और देखकर आहार-पाणी ग्रहण करने से पहले व्रत का निरतिचार पालन करना चाहिए। हास्य-क्रोध-लोभ-भय त्यागने से तथा विचार कर बोलने से मतिमान पुरुष ने दूसरे सूनृत रूप यम का पालन करना चाहिये।

अस्तेय रूप यम की पांच भावनाएं ये हैं:—अवग्रह मांगना, ठीक देखभाल विचार करके अवग्रह मांगना, निरन्तर गुरु की अनुज्ञा लेकर भात पानी काम में लेना। साधर्मी से अवग्रह मांगना और उसकी मर्यादा करना। इस प्रकार पांच भावनाएं हैं।

स्त्री-पंडक-पशुवाली वसति, कुड्यांतरित वसति और एक आसन त्याग करना, स्त्री के रम्य अंग देखने का तथा अपने अंग पर शृंगार करने का परिहार करना, स्निग्ध भोजन तथा अति-भोजन का त्याग करना, राग से स्त्री की कथा नहीं करना, तथा पूर्व की क्रीड़ा का स्मरण नहीं करना, इन पांच भावनाओं से बुद्धिमान ने सदैव ब्रह्मचर्य रखना।

शुभाशुभ, स्पर्श, रस, गंध, शब्द और रूप में सदैव राग-द्वेष का त्याग करना ये पाँचवें व्रत की भावनाऐं हैं। इस प्रकार पाँच-पांच भावनाओं से पांचों व्रतों का बराबर पालन करके अनन्त-जीव शिवपद को प्राप्त हुए हैं। गृहस्थ के धर्म में सुसाधु-गुरु से भली भांति व्रत सुन, समझ तथा लेकर पालना चाहिये। आयतन सेवन, आदि निरन्तर शील पालन, और सज्जनों ने स्वाध्याय आदि विभव उपार्जन करना। तथा भव्यजनों ने निष्कपट भाव रखकर व्यवहार शुद्धि करना, तथा चारित्ररूप पक्षी के तरु समान गुरु की शुश्रूषा करना। समस्त पापमल धोकर प्रवचन की कुशलता से शोभित होना।और कदापि अपने को स्त्री के वश में न होने देना। सम्यग् ज्ञान रूप सांकल से इन्द्रिय रूप वानरों को बराबर बांध रखना, और क्लेश व परिश्रम के आकर समान धन-दौलत में गृद्धि नहीं करना। दुःख के घर संसार में सदैव निर्वेद धारण करना, और विषयों को दुष्ट राजा के विषय (देश) के समान दूर ही से छोड़ना। निर्दंभ रहकर दंभ के समान तीव्र आरम्भों को कभी भी नहीं करना, तथा सकल क्लेश के निवासस्थान समान गृहवास में रति नहीं रखना।

दुर्गति के द्वार को ढांकने वाला निरतिचार सुदर्शन (सम्यक्त्व) धारण करना, और मोह राजा के विजय की भेरी समान लोक हेरी (देखादेखी) में मन नहीं रखना। समस्त कल्याण की खानि शुद्ध आगम का निर्मल विधि का सेवन करना, और शिव-

सुखदाता दानादिक चार प्रकार का धर्म करते रहना, न्याय मार्ग में चलते मूढ़जन हंसे, उसकी परवाह न करना और समस्त सांसारिक भावों–पदार्थों में राग द्वेष न करना।

तथा मध्यस्थता से स्वस्थ चित्त रख कर धर्माधर्म का विचार करना, और स्वजन सम्बन्धी तथा धन में गाढ़ प्रीति नहीं बांधना भोगोपभोग की तृष्णारूप काली नागिन को पकड़ने के लिये तैयार रहना, और निरन्तर यतिधर्म की धुरा उठाने में उद्यत रहना।

इस भांति विधिपूर्वक श्रावक का धर्म कर, निर्मल मन वाला पुरुष चारित्र पाकर, आठ भव के अन्दर मोक्ष पाता है।

यह सुन श्रीचन्द्र राजा ने श्रीप्रभ पुत्र आदि के साथ भुवनभानु गुरु से गृहस्थधर्म अंगीकृत किया। अब गुरु के चरणों में नमन करके राजा अपने स्थान पर आया और निर्मल गुणवान आचार्य अन्यत्र विचरने लगे।

एक दिन श्रीचन्द्र राजा की उसके दोनों पुत्र विनयपूर्वक अपने कोमल कर कमलों से पगचंपी कर रहे थे और अपने मुकुटोंकी मणियों की सुन्दर कांति से सभास्थान में अनेक इन्द्रधनुष बनाते हुए सहस्रों राजा भक्तिपूर्वक उसकी सेवा में उपस्थित थे, तथा राज्यभाररूप भवन को धारण करने के लिए स्तंभ समान, सद्बुद्धिवाले, निष्कपट सैकड़ों मन्त्रीश्वर उसके आसपास बैठे थे, तथा अत्यन्त घोर युद्ध में मिलने वाली संपत्ति में लंपट रहने वाले करोड़ों सैनिकों से वह परिवारित हो रहा था, इतने में हाथ में स्वर्णदण्ड धारण करने वाला छडीदार उसे इस प्रकार विनन्ती करने लगा।

हे देव! वैरिंगमल्ल नामक नटाग्रणी (श्रेष्ठ नट) सनत्कुमार के नाट्यप्रबन्ध को संक्षेप में तैयार करके आपको मिलने आया

है, उसको मैं ने रोका है। राजा ने हुक्म दिया कि उसे शीघ्र अन्दर भेज, तब छड़ीदार उसे वहां लाया तो वह तीन पात्रों की किंगर (दो के ऊपर तीसरा खड़ा रहे वैसा दिखाव) करके इस प्रकार राजा को आशीष देने लगा।

छः खंडवाली पृथ्वी, नव निधान, चौसठ हजार रत्नों को तृण समान छोड़कर, संसार के दुःख से घबरा कर जिसने जैन दीक्षा ग्रहण की वे सनत्कुमार राजर्षि, हे भूपाल! आपको श्री संपदादायक हो ओ। अब नाटक देखने के कौतुक के रसमें अपने पुत्र आदि सर्व जनों को उसने स्पष्ट रीति से आतुर मन वाले देखे। तब उनकी अनुवृत्ति के वश उस चतुर राजा ने उक्त नट-नायक की ओर सनत्कुमार का अभिनय करने के हेतु संकेत के साथ ही उज्वल दृष्टि फेरी।

तब राजा का अभिप्राय समझकर वह नट मनोहर वाणी से बोला कि—हे श्रीचन्द्रनरेश्वर आदि सभाजनों! थोड़े समय तक एक चित्त होकर चतुर्थ चक्रवर्त्ती का चरित्र सुनो। यह कह कर वह नटनायक अपना अभिनय करने लगा। वह इस प्रकार है।

श्री हस्तिनापुर के स्वामी, छः खंडवाले भरतक्षेत्र के अधिपति, महान् साम्राज्य भोगने वाले सनत्कुमार नरेश्वर की अत्युत्तम रूप लक्ष्मी देखने से अति विस्मय पाकर सौधर्मेन्द्र अपनी सभा में स्थित देवों को इस प्रकार कहने लगा।

हे देवों! पूर्वोपार्जित शुभ निर्माण नामकर्म से बने हुए कांति-युक्त शरीराकारवाले सार्वभौम महाराजा सनत्कुमार की कैसी रूप रेखा है, वह देखो कि—जो इस देवलोक में जन्मे हुओं को भी प्रायः नहीं होगी।

इस प्रकार इन्द्र के कहे हुए वचनों पर सन्देह करके विजय और वैजयन्त नामक दो देव शीघ्र ही पृथ्वी की ओर चले। (इस समय सर्व सभासद् विस्मय से विकसित नेत्रों द्वारा देखते हुए 'अब क्या होगा' सो जानने के हेतु ध्यान देकर सुनने लगे। वे दोनों देव तदनन्तर ब्राह्मण का रूप धर कर राजा का रूप देखने को आतुर होकर राजमहल के द्वार के पास खड़े रहे।

इस समय सनत्कुमार अपने अलंकार और कपड़े उतार कर अंग में खूब अभ्यंग करवाकर स्नान करने को बैठा था। इतने में द्वारपाल ने द्वार पर दो ब्राह्मणों के खड़े रहने का समाचार कहा। तब न्यायशाली उक्त चक्रवर्ती ने उनको उस समय भी अन्दर बुला लिया। तब इस राजराजेश्वर का अनुपम रूप देखकर, विस्मित हो, सिर धुनते हुए वे दोनों देव मन में इस भांति विचार करने लगे।

इसका यह कपाल शुक्लाष्टमी के चन्द्र को भूला देता है और कान के किनारे तक पहुँची हुई उसकी आंखें नीलोत्पल को जीतने के समान है। इसके दोनों होठ पके हुए बिम्बीफल की कान्ति के विकाश को हराते हैं, दोनों कान सीप को जीतने के समान है और कंठ पांचजन्य शंख का विजय करता है। इसकी दोनों भुजाएं हस्तीराज की सूंड के आकार को तिरस्कृत करती हैं, तथा वक्षःस्थल मेरु की चौड़ी शिलाओं की शोभा को लूटने के समान है।

इसके हाथ-पैरों के तलुवे सचमुच अशोक के पल्लवों को तर्जना करें वैसे हैं, अन्य अधिक क्या कहा जाय? इसके सर्व अंगों की शोभा वाणी को अगोचर है। इसकी लावण्य रूप नदी का कितना तीक्ष्ण प्रवाह है कि–जिससे चन्द्रिका में जैसे ताराओं

की ज्योति नहीं दीखती, वैसे ही इसके शरीर में किया हुआ अभ्यंग भी नहीं जाना जा सकता।

इन्द्र ने इसके रूप का जैसा वर्णन किया था, वैसा ही बल्कि उससे विशेष अधिक यह जान पड़ता है। सत्य बात यह है कि-महात्मा कभी भी मिथ्यावचन नहीं बोलते, (ऐसा वे देव विचार करने लगे।)

अब चक्री ने उनको पूछा कि–तुम किस प्रयोजन से यहां आये हो? तब वे बोले कि–हे भूप! तीनों जगत् में तेरा रूप अनुपम वर्णित किया जाता है, यह सुन हम महान् कौतुकवश हो, हे नरेन्द्रशार्दूल! तुम्हें देखने के लिये दूर से यहां आये हैं।

हे नरेश्वर! लोक में तेरा रूप जैसा अतुल वर्णित किया जाता है, उससे भी विशेष हम देखते हैं। इस प्रकार उन ब्राह्मणों का वचन सुनकर हास्य से होठ फरका कर राजा बोला कि-अभ्यंग से सब जगह लिप्त अंग में अभी यह कान्ति किस गिनती में है। हे भद्र ब्राह्मणों! क्षण भर बाहर जाकर तुम खड़े रहो, ताकि हम स्नान का प्रसंग पूरा करलें, पश्चात् विविध वस्त्रों से सजा हुआ और नाना भूषणों से शृंगारित मेरा रूप रत्न जड़ित सुवर्ण के समान (दर्शनीय हो जावेगा।) पुनः तुम देखना।

पश्चात् वह नहा धोकर अलंकार तथा नेपथ्य (वेष) से शृंगारित होकर, आकाश में जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे सभास्थान में आ बैठा। अब ब्राह्मणों को आज्ञा मिलने पर पुनः वे राजा का रूप देखते हुए दव (अग्नि) से जले हुए बांस के समान तुरन्त मुरझा गये। इस समय सकल सभासद चमक कर 'अरे रे! यह क्या हो गया?' यह सोचकर संकेत से परस्पर देखने लगे।

तब चक्रवर्त्ती उनको पूछने लगा कि-पहिले मुझे श्रृंगार-विहीन देखकर हे विप्रों! तुम हर्षित हुए थे, किन्तु अब मैंने श्रृंगार सजा लिया है तो भी तुम खिन्न क्यों दीखते हो? तब वे ब्राह्मण बोले कि-हे भूपति! अभी तुम्हारे शरीर में सात व्याधियां प्रविष्ट हुई हैं, जिससे तुम्हारे अंग का अतुल रूप, लावण्य, वर्ण तथा कांति, गुण यह सब नष्ट होता जाता है, इसीसे हम उदास हो गये हैं।

भरताधिप ने पूछा कि-यह तुमने कैसे जाना? तब वे यथार्थ-रीति से पूर्व में इन्द्र की कही हुई बात बताकर अपना रूप प्रकट कर, वापिस अपने स्थान को आये। अब सनत्कुमार वैराग्यबुद्धि धारण करके इस प्रकार सोचने लगा।

जिसके कारण घर, स्वजन, स्त्रियां और चतुरंगी-सैन्य का संग्रह किया जाता है, वह शरीर भयंकर कीड़ों से जैसे काष्ठ बिगड़ता है वैसे ही रोगों से बिगड़ता है। जिससे मति खोकर जीव हिताहित का विचार नहीं करते, उसी यौवन को दावानल की ज्वाला जैसे वन को जलाती है वैसे ही जरा जला देती है। जिससे गर्वित होकर मनुष्य कृत्याकृत्य नहीं जान सकते, तद्रूप ही हिम पड़ते जैसे कमल नष्ट हो जाता है, वैसे ही धातुक्षोभ होने से तुरत बिगड़ जाता है। अतः आजकल में नष्ट हो जाने वाले इस शरीर का अविनश्वर फल इस समय प्राप्त करलूं, इस भांति चित्त में विचार करके (हे लोकों! देखो) वह राजा विस्तृत राज्य त्याग कर, भवसागर में नाव समान जिनदीक्षा ग्रहण करने लगा।

(सामने देखो! सामने देखो!!) यह दशमद्वार को रोक रखने वाला होने से मानो अपराधी हो, वैसे काली कांतिवाले

वालों को यह राजा मूल से उखाड़ डालता है। (सामने देखो!) मणि और रत्नों से भरे हुए मुकुट तथा हार आदि ये आभरण इसने निर्माल्य के समान त्याग दिये हैं। (देखो!) पति का छोड़ दिया हुआ अंतःपुर दुःखी आवाज से झाड़ के अग्रभाग पर बैठे हुए पक्षी प्रचंड पवन के झपाटे से कंपित होकर चिल्लाते हैं, वैसे रोता है। (देखो!) हे नाथ! हे नाथ!! हम अशरणों को तूं एकदम क्यों छोड़ जाता है? इस भांति लुटे हुओं के समान लोग विलाप करते हैं।

इस प्रकार नट-नायक ने भरताधिपति सनत्कुमार के निष्क्रमण का बनाव इस प्रकार दिखाया कि-जिससे श्रीचंद्र राजा भी तत्काल वैराग्य पाकर, पूर्वभव के श्रुत-संयम का स्मरण कर पंचमुष्टि लोचकर देवों से साधु का वेष पाकर राजमंदिर से निकल पड़ा।

'यह सब नट का विलसित है, इसलिये हे नाथ! हम को अनाथ करके छोड़कर मत जाओ' इस प्रकार उसके परिवार के रोते हुए भी वह ऋषि अपनी इच्छानुसार विहार करने लगा।

अब पिता के वियोग से विह्वल तथा अश्रुपूर्ण नयन वाले श्रीप्रभकुमार को इच्छा न होते भी विनय से नमे हुए सामंतों तथा मंत्रीश्वरों ने राज्य पर बैठाया तथा प्रभाचंद्र कुमार को युवराज पद पर स्थापित किया, और महान् शोक रूप शंकु निकालने में चतुर उन लोगों ने उनको वचनों से इस प्रकार कहा—

हे देव! आप अपने पिताजी का शोक मत करिये क्योंकि-महाभाग तो अशोच्य ही हैं, जिन्होंने कि कपटी स्त्री की भांति

संपूर्ण राज्यलक्ष्मी को छोड़ दी है ऐसा दुष्कर श्रमणधर्म कौन उठा सकता है ? क्योंकि–बुद्धिमानों को भी वैराग्य की बुद्धि क्षण भर ही रहती है। शोक तो उनका करना चाहिये कि–जो सुकृत किये विना मर जावें, जो धर्म में खूब उद्यम करें, वैसे जगत में पांच छः ही पुरुष होते हैं।

कौन शास्त्र नहीं सुनता ? कौन सकल पदार्थ क्षणविनाशी है, ऐसा नहीं देखता ? प्रति समय होते प्राणियों के मरण को कौन नहीं विचारता ? सदैव सुखदायी गुरु का उपदेश अपने हृदय में कौन धारण नहीं करता ? और किसको अक्षय, अनन्त, अनुपम अमृत सुख (मुक्ति–सुख) प्रिय नहीं ? । परन्तु पर्वत समान महा पुरुष भी चल–चित्त पन से धर्म के अनुष्ठान में उत्साह छोड़ कर गिरते दृष्टि आते हैं। तथापि तुम्हारे महा मतिमान् पिता ने तो कुछ ऐसा साहस किया है कि–जो महान् साहसियों के मन को भी चमत्कृत कर डालता है। तथा इस नाटककार को तो आपके पिता का परोपकारी होने से वास्तविक धर्माचार्य के समान आपने विशेष पूजना चाहिये।

यह सुनकर राजा का शोक कुछ कम होने से वह नीतिलता चढ़ाने में सजल मेघ समान राजा उक्त नाटककार को पूज कर राज्य देने लगा।

अब वह बर्फ और हार के समान श्वेत अनेक नये विहार (जिन–मंदिर) बनवाने लगा और बड़े गौरव के साथ भक्ति पूर्वक साधर्मिवात्सल्य करने लगा। तथा वह जिनशासन की उन्नति करता हुआ मुग्धजनों को धर्म में स्थिर करने लगा, और वह प्रायः सामायिक, पौषध आदि धर्म में (सदैव) लगा ही रहता था।

अब श्रीप्रभराजा को सदैव धर्म में लगा हुआ और जीत प्राप्त करने की इच्छा से रहित जानकर अरिदमन राजा उसके

देश में उपद्रव करने लगा। दूत के मुख यह समाचार जान कर श्रीप्रभराजा ने दूत के द्वारा ही उसे कहलाया कि-हमारी सीमा के कतिपय गांवों की झोपड़ियां लूटकर तूं अपने पूर्वजों की स्थापित की हुई हेत प्रीति को खूब बिगाड़कर क्यों दुर्जनता कर के इस प्रकार मेरा अनिष्ट करता है ?

कहा भी है कि—वे सत्पुरुष धन्य है कि—जिन का स्नेह अभिन्नमुख हो प्रतिदिन वृद्धि पाता हुआ ऋण के समान पुत्रों में भी चालू रहता है। अतः इस अपराध से अब भी अलग हो। तेरा यह अपराध मैं क्षमा करता हूँ। क्योंकि-स्नेह रूप झाड़ को तोड़ने के लिये मैं अगुआ नहीं होता। यह सुनकर अरिदमन राजा उस दूत के प्रति हंसता हुआ बोला कि-हे दूत ! तूं मेरी ओर से अपने स्वामी को इस भांति कहना कि-

हे पार्थिव ! तूं ने तो विस्तार से धर्म के कार्य शुरु किये हैं। अतः भूमि सम्बन्धी यह अनर्थकारी माथाफोड़ बन्द रखना चाहिये, और जो इसे भी तूं चाहता हो तो, इस धर्म कर्म को छोड़, क्योंकि—सिर मुंडाना और केश समारना ये दोनों एक ही स्थान में कैसे हो सकते हैं ? किन्तु जो तूं ने केवल लोगों राजी करने के लिये ही यह धर्म आरम्भ किया हो तो, निश्चित रह, मैं तेरे देश को अब नहीं लूटूंगा। तथा पूर्व स्नेह से बात करना यह तो विजय के इच्छुक राजाओं को महान् दूषण रूप है, अथवा पूर्ण असामर्थ्य है।

इस प्रकार दूत के मुख से सुनकर श्रीप्रभ राजा ने खूब क्रुद्ध होकर सेवकों के द्वारा सहसा रणभेरी बजवाई। उसका शब्द सुन कर तुरन्त एकत्र हुई चतुरंग सेना लेकर शत्रु पर चढ़ा, और क्रमशः देश की सीमा पर आया। तब रणरसिक अरिदमन राजा

भी तुरन्त उसके सन्मुख तैयार हुआ, क्योंकि-शूरवीर लड़ने के लिये आलसी नहीं होते हैं। जैसे कि-ब्राह्मण खाने के लिये आलसी नहीं होते हैं।

अब दोनों सेनाओं के अनेक शस्त्रधारी सुभटों का, आकाश में जैसे बिजली वाले बादलों का मिलाप होता है, वैसे मिलाप हुआ। अब मालवपति के अति अद्भुत भटवाद वाले सुभटों ने शत्रु के सैन्य को, मदोन्मत्त हाथी जिस प्रकार उद्यान को छिन्न-भिन्न करते हैं उस प्रकार छिन्न भिन्न कर डाला। तब अरिदमन राजा रथ पर चढ़ कर अपने छिन्नभिन्न सैन्य को एकत्र करता हुआ धनुष पछाड़ता हुआ स्वयं लड़ने को उद्यत हुआ।

उसने उसी समय तीक्ष्ण बाणों का मेह बरसा कर समुद्र की बढ़ती हुई लहर पानी के द्वारा जैसे किनारे के पर्वत को पकड़ती है वैसे रिपुसैन्य को घर लिया। क्षणभर में महान भुजबली अरिदमन ने लकड़ी जैसे घड़े की किनार को तोड़ डालती है अथवा पवन जैसे लाखों झाड़ों को तोड़ डालता है, वैसे सन्मुख-स्थित शत्रु सैन्य को तोड़ डाला (नष्ट कर दिया) तब अपने सैन्य का भंग होने से कुपित हुआ श्रीप्रभराजा यम के छोटे भाई के समान शत्रु-सैन्य का संहार करने को खड़ा हुआ। मालवपति के सन्मुख शत्रु-सैन्य गरुड़ के सन्मुख सर्प न टिके अथवा सिंह के सन्मुख हरिण न टिके, वैसे क्षण भर भी न टिक सका।

तब छिन्नभिन्न सैन्य वाले तथापि सन्मुख खड़े हुए अरिदमन राजा को श्रीकृष्ण समान बलवान मालवपति ने लड़ने को बुलाया। पश्चात् वे दोनों राजा अनेक शस्त्र और अस्त्र से एक दूसरे को मारने की मतिवाले जंगली हाथी जैसे दांतों से लड़ते हैं, वैसे लड़ने लगे। मालवपति ने बहुत समय तक लड़कर अरिदमन को, गारुड़ी जैसे सर्प को निर्विष करता है, वैसे ही

गतवीर्य और गतशस्त्र कर दिया। तब वड़े हाथियों से मारा हुआ हाथी का वच्चा जैसे भागता है, वैसे श्रीप्रभराजा से पराभव पाया हुआ, अरिदमन पीछे देखता हुआ भागने लगा।

अब उसके रथ, घोड़े, हाथी आदि सर्व लक्ष्मी श्रीप्रभराजा को मिली, क्योंकि-जिसका पराक्रम उसकी लक्ष्मी। भरे हुए बादलों के समान मालवपति रणसागर से निवृत्त होकर सब लोगों को राजी करता हुआ अपनी नगरी में आया। और त्रिवर्ग साधन के साथ वह इन्द्र के समान राज्यश्री भोगता हुआ काल व्यतीत करने लगा।

एक समय वहां सुमुनियों सहित प्रभास नामक आचार्य पधारे तव उनको नमन करने के हेतु राजा वन्धु-परिवार युक्त निकला। राजा भूमि पर मस्तक लगा मुनीश्वर को नमन करके उचित स्थान पर बैठा, तो गुरु इस प्रकार देशना देने लगे।

इस संसार में कोई भी जीव अनन्तकाल तक भटक भटक कर महा कठिनता से मनुष्यत्व पाता है। उस पर भी धर्म कर्म करने को समर्थ शरीर वल और आयुष्य तो चिरकाल ही में मिलता है। उस पर भी गाढ़ मिथ्यात्व वश अति निर्मल विवेक खोकर, पाप वृद्धि कर, पुनः इस भव में अनन्तवार अनन्तों दुःखों की पीड़ा से विधुर हो यह संभ्रमी जीव भटका करता है। इस प्रकार भवसमुद्र में नीचे डूवता व ऊपर आता हुआ भाग्यवश पुनः मनुष्यत्व पाकर हे भव्य लोको! तुम मजबूत गुणगण से बांधी हुई नाव समान क्लेश को नाश करने वाली जैनदीक्षा को अंगीकार करो।

अति उत्कट करोड़ों सुभट तथा रथ, घोड़े, हाथियों के लश्कर वाले शत्रुओं को जो जीते, वैसे तो जगत् में सैकड़ों मनुष्य मिलते

हैं, परन्तु जो अनेक कुविकल्प की कल्पना करती अपनी आत्मा को जीतें उन्होंने इस त्रैलोक्य को जीता है और वे ही परम शूर हैं।

आगम में भी कहा है कि—जो संग्राम में लाखों दुर्जय शत्रुओं को जीते (उससे) जो एक आत्मा को जीतता है, उसका जय बड़ा है। एक जीतते पांच जीते जाते हैं, पांच जीतते दश जीते जाते हैं. दश जीतने से सर्व शत्रु जीते जानना चाहिये।

ऐसा सुनकर श्रीप्रभराजा गुरु को नमन करके बोला कि—मैं प्रभाचन्द्र को राज्य सौंपकर आपसे दीक्षा लूंगा। तब आचार्य ने कहा कि—हे देवानुप्रिय! प्रमाद न कर। तदनन्तर राजा हर्षित हो सपरिवार अपने स्थान को आया।

अब समस्त राजपुरुषों के समक्ष अपने भाई प्रभाचन्द्र को राज्य में स्थापित करके वह राजा उसे इस प्रकार शिक्षा देने लगा—हे वत्स! तूं ने अन्तरंग शत्रुओं को सदैव जीतना। क्योंकि—उनके न जीतने से बाहर के बलवान शत्रु जीते हुए भी अपराजित ही समझना चाहिये। तथा माली जैसे फूलों की रक्षा करता है वैसे तूं अपनी प्रजा को परिश्रम से पालना तथा हृदय में जिनेन्द्र को धारण करना। वैसे ही सर्वत्र औचित्य धारण करना।

उसी भांति जैसे सुसाधु प्रतिलेखना आदि क्रियाओं का साथ ही साथ साधन करता है, वैसे तूं भी धर्म, अर्थ, व काम इन तीन पुरुषार्थों को परस्पर अविरोध के साथ साधते रहना। अग्नि से बिगड़े हुए कपड़े के समान अपने न्याय हीन स्वजनों को अलग करना, और घोड़ों के समान दुर्दम इन्द्रियों का दमन करते रहना। द्विदल के अन्न में गोरस के समान कुसंग का वर्जन

करना और चातक जैसे मेघ की सेवा करते हैं वैसे आर्य जनों का सेवन करना।

हे बन्धु! सद्भक्ति से श्रद्धावान जनों को भाई मानकर पूजना और नागपति जैसे अमृत को सम्हाल कर रखता है, वैसे तूं वसुधा को न्याय से रखना। तूं पृथ्वी का आधार है। तेरा आधार कोई नहीं। अतः हे वत्स! तूं अपने द्वारा ही अपने को सदैव धारण कर रखना।

ऐसा कह कर श्रीप्रभ राजा चुप हुआ, तो प्रभाचन्द्र ने शिर नमाकर ये सब शिक्षाएँ स्वीकृत की। पश्चात् श्रीप्रभ राजा नहा धोकर रत्नालंकार से विभूषित हो किनारी वाले रेशमी वस्त्र पहिनकर याचकों को महादान देता हुआ, सकल संघ की पूजा करके भाई की बनवाई हुई हजारों मनुष्यों से ढोई जाने वाली पालखी पर, मानों पुष्पक विमान पर कुबेर चढे, वैसे चढ़कर बैठा।

पश्चात् चतुरंगी सेना सहित विनय-नम्र भाई उसके पीछे चलने लगा और नागरिक जन उच्च स्वर से जय-जय शब्द पुकारने लगे। इस भांति बड़ी धूमधाम से नगरी के बीच से होकर गुरु के चरणों से पवित्र उद्यान में आने पर पालखी से उतरा।

अब उस भूपति ने अपने भुजदंड से जैसे भूमि का भार उतारा वैसे अपने शरीर पर से सर्व आभूषण उतारे। पश्चात् [illegible] ने सिद्धान्तोक्त विधि से उसे दीक्षा देकर परमानन्द देने वा[illegible] से इस प्रकार शिक्षा दी।

कछुवे को चन्द्र का दर्शन हुआ। [illegible] दृष्टान्त से दुर्लभ दीक्षा पाकर शयन, आसन आदि सर्व [illegible] यतनापूर्वक [illegible] चाहिये। क्योंकि—यतना धर्म की उत्प[illegible] यतना धर्म

नित्य रक्षक है। यतना उसकी वृद्धि करने वाली है और सर्वत्र यतना ही सुखकारक है। एक मात्र यतना का सेवन करके अनन्तों जीवों ने कर्म-मल दूर करके, अक्षय अव्यय शिवपद पाया है।

इस प्रकार शिक्षा देकर प्रभासगुरु अन्यत्र विचरने लगे। क्योंकि-शरदऋतु के बादल समान मुनिजन एक स्थान में नहीं रहते। श्रीप्रभराजा भी प्रतिसमय विशुद्ध रहते निर्मल परिणाम वाला होकर हाथी का बच्चा जैसे यूथपति (समूह के सरदार) हाथी के साथ फिरता है, वैसे गुरु के साथ सदैव विचरने लगा।

अब श्रीप्रभ मुनि जिनेश्वर कथित आगम के सूत्रार्थरूप अमृत को देव के समान पीते हुए, पंच महाव्रत के भार को शेषनाग जैसे पृथ्वी के भार को उठाता है, वैसे उठाते हुए, पांच तीक्ष्ण समितियों को धनुर्धारी जैसे हाथ में पांच बाण धारण करे, वैसे धारण करते हुए, तीन गुप्तियों को राजा जैसे तीन शक्तियां धारण करता है, वैसे शुद्धतापूर्वक धारण करते हुए, सुपथिक के समान सर्व मार्गानुसारिणी क्रिया करते हुए, फूलों के रस में भ्रमर जैसे प्रीति रखता है, वैसे धर्म में श्रद्धा रखते हुए, भद्र हाथी के समान प्रज्ञापनीयता से युक्त होकर, विद्यासाधक जैसे विद्याओं में अप्रमादी रहता है, वैसे क्रियाओं में सदैव प्रमाद रहित रहते हुए।

वैद्य जैसे योग्य रोगी को स्वीकार करता है, वैसे शक्यानुष्ठान को स्वीकार करते हुए, सरोवर के मध्य में रहकर हंस जैसे प्रसन्न होता है, वैसे गुणवान के संग में प्रसन्न रहते हुए, और परमयोगी जैसे परमात्मा का आराधना करता है, वैसे गुरुजन का आराधना करते हुए चिरकाल पर्यंत निरतिचार चारित्र का पालन करने लगे।

इधर त्रिवर्ग पालते हुए प्रभाचन्द्र राजा को हरिषेण और पद्म नामक दो पुत्र हुए। वे दोनों सकल कलाओं से पूर्ण होकर पूर्णिमा के चन्द्र समान समस्त जनों को सुखदायी होकर ऐसे शोभने लगे मानो राजा के अन्य दो भुजदण्ड हों। अब एक समय राजा को अन्नादि में अरोचक भाव हुआ, जिससे वह मरुभूमि में आ पड़े हुए हंस के समान प्रतिदिन कृश होने लगा। तब अच्छे-अच्छे वैद्य बुलाये गये। उन्होंने अनेक क्रियाएँ की किन्तु कुछ भी गुण नहीं हुआ। तब राजा इस प्रकार विचार करने लगा।

इन द्रव्यौषधों से क्या होने वाला है? अब तो ज्येष्ठ पुत्र को युवराज पद पर स्थापित कर, मैं धर्मौषध करूं तो ठीक। इतने में सहसा उत्पन्न हुए कठिन शूल से वैद्यों के उपचार करते भी पद्म-कुमार मर गया। तब पुत्र की मृत्यु सुनकर राजा अत्यन्त शोक से संतप्त हो वज्राहत पर्वत के समान मूर्छावश भूमि पर गिर पड़ा। जब पवनादिक के उपचार से वह चैतन्य वाला हुआ तो इस प्रकार विलाप करने लगा—

हे पुत्र! तूं कहां गया है? मुझे उत्तर क्यों नहीं देता? हाय! पूर्णचन्द्र को ऊगते ही तुरन्त राहु ने ग्रस लिया! हाय-हाय! फूलता हुआ वृक्ष विशाल हाथी ने उखाड़ डाला! हाय-हाय! समुद्र के किनारे आये हुए वहाण तोड़ डाले, अरे रे! विशाल निधान दृष्टि आते ही, दुर्भाग्य ने हर लिया। बादल ऊंचा चढ़ा कि-पवन ने क्षणभर में छिन्न-भिन्न कर दिया। हाय-हाय! इसी भांति यह कुमार राज्य के उचित हुआ और दैव ने हर लिया।

इस प्रकार प्रलाप करते हुए राजा को किसी प्रकार मन्त्रियों ने समझाया। तब उसने उसका मृतकृत्य किया। पश्चात् समया-, शोक कम होने पर वह मन में ऐसा विचार करने लगा।

जो मेरु को दंड और पृथ्वी को छत्र करने को समर्थ थे। वे भी स्वपर को नहीं बचा सके तो दूसरे की क्या बात है? अमृत से पोषित, हाथ में भयानक वज्र धारण करने वाला, करोड़ों देवों से परिवारित इन्द्र भी, वृक्ष पर से पका हुआ फल गिरे, उस भांति देवलोक से पतित होता है। सगर चक्रवर्ती भी साठ हजार लड़कों को यम समान ज्वलनप्रभ से बचा नहीं सका तो क्या तू उनसे भी बलिष्ट है? पाप करके जिनका शोषण किया हो, उनके देखते हुए रंक के समान बेचारे अशरण संसारी जीव को यम घसीट कर ले जाता है। उसे वह नरक में लाता है तो वहां वह महान घोर वेदनाएं सहता है। क्योंकि—प्राणियों के कर्म जन्मान्तर में भी दौड़ते आते हैं। मेरी माता, मेरा पिता, मेरा भाई, मेरे पुत्र, मेरी स्त्री यह बुद्धि मिथ्या है। परमार्थ से शरीर भी अपना नहीं। ये पुत्रादिक भिन्न-भिन्न स्थान से आकर एक स्थान में आ बसे हैं। यह वास्तव में संध्या के समय वृक्ष पर पक्षी आकर बसेरा करते हैं, उसके समान हैं। वहां से वापस रात्रि में सोकर उठे हुए पथिकों के समान जीव भिन्न-भिन्न स्थान को चले जाते हैं। इस प्रकार रहट की घड़ियों के न्याय से सदैव आवागमन की क्रिया करते हुए जीवों में कौन अपना व कौन दूसरों का है।

इस प्रकार राजा संवेगवश विचार कर रहा था कि-इतने में वहां उद्यान में कुमारनन्दी गुरु का आगमन हुआ। तब गुरु का आगमन जानकर, वहां जा, नमन करके राजा उचित स्थान में बैठा, तब गुरु देशना देने लगे।

चारों ओर से अपनी जातिवालों से तथा परजाति वालों से आ पड़ती हुई अनेक आपत्तियां भोगते हुए यम के दंतयन्त्र में

रहे हुए प्राणी महा कठिनता से जीते हैं। जीवित रखने वाले अनेक औषध तथा आयुर्वेद के उपचार तथा मृत्युंजय आदि सरस मन्त्र भी मौत से बचा नहीं सकते। अहह! धूर्त तथा आर्य को, निर्धन तथा महा धनवान को, मन्दबुद्धि तथा प्राज्ञ को, समवर्त्ती (मृत्यु) कुछ भी अन्तर रखे विना निरन्तर खाता रहता है। इसलिये ताप नाशक तथा अजरामर पददाता अमृत समान श्रमणधर्म को छोड़कर इस जगत में कहीं भी अन्य कोई भी शरण नहीं।

यह सुनकर राजा यतीश्वर के चरणों को नमन करके बोला कि—मैं श्रावकधर्म का पालन कर चुका हूँ, और यतिधर्म करने की निरन्तर इच्छा करता हूँ। तथापि पूर्वभवोपार्जित (कर्म से हुए) कठिन रोग वश शरीर से दुःखित हूँ, जिससे दीक्षा नहीं ले सकता। अतः अब मुझे क्या करना उचित है?

तब गुरु राजा का अल्पायु जानकर बोले कि—हे नरेश्वर! तेरे अतिचारों की आलोचना कर। प्राणियों को खमा, समस्त पाप स्थानों को वोसिराव (तज), जिन-सिद्ध-साधु और धर्म की भलीभांति शरण ले। दुष्कृत की गर्हा कर, सुकृत की अनुमोदना कर, शुभ भावना कर, और हर्ष से अनशन ले। पंच नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर,और राज्य तथा राष्ट्र की ममता छोड़, इस प्रकार गुरु की वाणी सुनकर राजा हर्षित हुआ।

पश्चात् उसने अपने पुत्र हरिषेण को हर्ष से पृथ्वी का भार सौंपा, संघ को खमाया और जिन-मन्दिरों में पूजा कराई। तत्पश्चात् उसने गुरु की साक्षी से समाहित मन से अनशन लेकर, स्वध्याय ध्यान में तत्पर रह सात दिन व्यतीत किये। इतने में उसका चारित्रावरणीय कर्म टूटा, जिससे वह अंजली जोड़कर गुरु को इस भांति विनन्ती करने लगा।

ने अल्प सत्त्ववान् होकर पूर्व में दीक्षा नहीं ली,
चित है कि नहीं ? तब गुरु बोले कि–हे भूपति !
मन से एक दिन भी प्रव्रज्या पालता है, वह जो
ने, तो वैमानिक तो अवश्य होता है। अतः अब
क्षा ग्रहण करले और समभाव धारण कर। ऐसा
र्पित होकर संस्तारक यति हुआ।

र कर्णरूप पत्रपुट से सिद्धान्त रूपी अमृत पीता
हत होकर, उल्लसित महान् समाधि रूप हृदय में
अवगाहना करने लगा। इस भांति पन्द्रह दिवस
के, मन में पंच नमस्कार स्मरण करता हुआ मर
मान में महान् ऋद्धिशाली देवता हुआ।

भ मुनि, प्रभास मुनीश्वर के साथ ग्राम, पुर और
ते हुए अरिदमन राजा के देश में आये। वहां लोक–
न्द्र राजा का मृत्यु वृत्तान्त सुनकर, वैराग्य पा, वह
सा सोचने लगा कि–प्रभाचन्द्र राजा धन्य व कृत-
–जिसने करोड़ों भव में अति दुर्लभ पण्डित मरण

न धीर को भी मरना है, और शृगाल समान डर-
रना है; इस भांति दोनों को मरना तो निश्चय है,
रह कर ही मरना उत्तम है। अतः मैंने दो प्रकार से
है, और चिरकाल चारित्र का पालन किया है तो
ु के सन्मुख होकर मरना चाहिये। यह सोचकर वे
आज्ञा ले, पाप मुक्त हो, प्रति समय उच्च परिणाम
निःस्पृह होकर शत्रु मित्र पर समभाव रख निर्जीव
कर निर्मल मन से विधिपूर्वक पादपोपगम अनशन

इसी समय चर के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर अरिदमन राजा वहां आ हर्षित हो, उक्त मुनि की इस प्रकार स्तुति करने लगा—

हे मुनीश्वर! आप विकसित शतपत्र के दलपटल के समान विमल कीर्त्तिवान् हो, सकल जीवों की रक्षा में दक्ष आशयवान् हो सुधीर हो। पवित्र सत्य वचन की रचना के विस्तार रूप अमृत से संसार के दाह का शमन करने वाले हो। दंत शोधन के योग्य पराई वस्तु में भी निःस्पृह मनवाले हो, जगत् को जीतने वाले कामरूप हाथी का कुंभस्थल विदीर्ण करने को बलिष्ट केसरी सिंह के समान हो और पग में लगी हुई रज के समान क्रीड़ावत् महान् राज्य का त्याग करने वाले हो। (अतः आप जयवान रहो, जयवान रहो।)

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्यरूप महासागर में अवगाही और अति दुष्कर तप करने वाले हे महाभाग! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। इस प्रकार उसके स्तुति करने पर भी सर्वथा उत्कर्ष रहित रहकर वे मुनि उस समय आयु टूटते परम ध्यान पर चढ़े। वे इस शरीर को भाड़े के मकान के समान तुरन्त त्याग कर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्तम देवता हुए।

अब वहां समीपस्थ देवताओं ने हर्षित होकर गंधोदक तथा कुसुम की वृष्टि से मुनि के शव की महिमा करी।

वह देव सर्वार्थसिद्धि विमान में एक हाथ ऊंचा तथा चन्द्र-किरण के समान कान्तिवान्, तैंतीस सागरोपम की आयुष्यवाला अहमिन्द्र, अहंकार रहित, सुखशय्या में सोनेवाला, निःप्रतिकर्म (शृंगार उतारने पहिनने की खटपट रहित), सदैव विमल लेश्या से युक्त, स्थानांतर में जाने आने के झंझट से मुक्त, उत्तर वैक्रिय विकार को न करने वाला, तैंतीस पक्ष से सुगंधि निःश्वास लेने

वाला और तैंतीस हजार वर्ष में मन से आहार लेने वाला, तथा अवधिज्ञान से भिन्न लोकनाली को देखता हुआ आनन्दित रह-कर, प्रवर तेजस्वी हो, मुक्ति समान सुख भोगता रहा।

पश्चात् श्रीप्रभ और प्रभाचन्द्र के जीव स्व-स्व स्थान से च्यवन कर पश्चिम महाविदेह में, शुद्धचारित्र पालन कर मुक्ति पावेंगे।

इस प्रकार इक्कीस गुणों से युक्त श्रीप्रभ राजा, साधु श्रावक के धर्म का भार धारण करने को धौरेयक हुआ। इस लिये हे भव्यजनो! तुम भी शाश्वत सुख स्थान प्राप्त करने में आदरबद्ध होकर इन मूल गुणों का उपार्जन करने में नित्य यत्न करते रहो।

इस प्रकार श्रीप्रभ महाराजा की कथा पूर्ण हुई।

ऐसा होने से विशेषतः पूर्वाचार्यों की प्रशंसा करते हैं:—

ता सुट्ठु इमं भणियं पुव्वायरिएहिं परहियरएहिं।
इगवीस गुणोवेओ जोगो सइ धम्मरयणस्स ॥१४१॥

मूल का अर्थ—इसीलिए परहित परायण पूर्वाचार्यों ने ठीक कहा है कि-इक्कीस गुणों से जो युक्त होता है, वही सदैव धर्म-रत्न के योग्य होता है।

टीका का अर्थ—क्योंकि इन गुणों से युक्त हो, वह धर्म कर सकता है, इसीलिये पूर्वाचार्यों ने अर्थात् पूर्व काल में हुए सूरियों ने परहितरत अर्थात् अन्य जनों का उपकार करने की लालसा से यह सुष्ठु कहा है, अर्थात् कि-शोभन-उत्तम-श्रेष्ठ कहा है कि-इक्कीस गुणों से उपेत अर्थात् युक्त हो, वह सदा पूर्वोक्त स्वरूप वाले धर्मरत्न को योग्य होता है।

अब प्रकृत शास्त्रार्थ का अनुवाद करते हुए उपसंहार की दो गाथाएं कहते हैं:—

धम्मरयणत्थियाणं देसचरित्तीण तह चरित्तीण ।
लिंगाइं जाइं समए भणियाइं मुणियतत्तेहिं । १४२॥
तेसिं इमो भावत्थो नियमइविहवाणुसारओ भणिओ ।
सपराणुग्गहहेउं समासओ संतिसूरीहिं ॥१४३॥

मूल का अर्थ—धर्मरत्न के अर्थी, देशचारित्री तथा (सर्व) चारित्री के जो चिह्न तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने सिद्धान्त में कहे हैं, उनका यह भावार्थ अपनी मति के अनुसार स्वपर के अनुग्रह के हेतु शांतिसूरि ने संक्षेप से कहा है।

टीका का अर्थ—धर्मरत्न को उचित देशचारित्री अर्थात् श्रमणोपासक और चारित्री अर्थात् साधु, उनके लिंग अर्थात् चिह्न जो समय में अर्थात् सिद्धान्त में भणित हैं अर्थात् कहे हैं। मुणिततत्त्वपुरुषों ने अर्थात् सिद्धान्त के तत्त्व को समझने वाले पुरुषों ने, यह पहिली गाथा का अर्थ है। उनका यह पूर्वोक्त स्वरूपवाला भावार्थ अर्थात् तात्पर्य, निजमति—विभव के अनुसार अर्थात् अपनी बुद्धिसंपत् के अनुसार कहा है। सारांश यह है कि—सिद्धान्त रूप महासमुद्र का पार पाना अशक्य होने से जितना जाना उतना कहा है।

इतना प्रयास क्यों किया है ? इसके लिये कहते हैं कि—स्वपर का अनुग्रह अर्थात् उपकार वही हेतु अर्थात् कारण है। जो कहना सो स्वपरानुग्रह हेतु यह क्रियाविशेषण है। स्वपरानुग्रह तो आगम ही से होगा, ऐसा कोई कहे, तो ऐसा नहीं। क्योंकि—आगम में तो कोई अर्थ कहीं ओर कहा, उसे वर्तमान में अल्पायु और अल्पबुद्धि जीव नहीं समझ सकते। इसी हेतु समास से अर्थात् स्वल्प ग्रंथ से यह कहा है।

किसने कहा? सो कहते हैं कि- शांतिसूरि ने अर्थात् जिन प्रवचन से निर्मल बुद्धिवाले, परोपकार के रसिक मनवाले, चन्द्रकुलरूप विमल नभस्थल में चन्द्रमा समान शान्तिसूरि नामक आचार्य ने। यह दूसरी गाथा का अर्थ है।

अब शिष्यों को अर्थित्व उपजाने के हेतु कहे हुए शास्त्रार्थ के परिज्ञान का फल बताते हैं—

जो परिभावइ एयं संमं सिद्धंतगब्भजुत्तीहिं।
सो मुत्तिमग्गलग्गो कुग्गहगत्तेसु न हु पडइ ॥१४४॥

मूल का अर्थ—जो कोई इसे सम्यक् रीति से सिद्धान्त की युक्तियों से विचारे, वह मुक्ति के मार्ग में लगा रहकर कुग्रह रूप गड्ढे में नहीं गिरता है।

टीका का अर्थ—जो कोई लघुकर्मी पुरुष इस पूर्वोक्त धर्म-लिंगों के भावार्थ को सम्यक् रीति से अर्थात् मध्यस्थपन से सिद्धांत गर्भ युक्तियों से अर्थात् आगम के प्रमाणवाली युक्तियों से बराबर विचारे, वह प्राणि मुक्ति मार्ग में अर्थात् निर्वाण नगर के मार्ग में लगा हुआ अर्थात् चलता हुआ कुग्रह अर्थात् दुषमाकाल में होने वाला मतिमोह विशेष तद्रूप गर्त्त अर्थात् कुए व गड्ढे, क्योंकि-वे गति में अटकाव करते हैं, तथा अनर्थ भी उत्पन्न करते हैं। उन गड्ढों में कदापि न गिरे। हु शब्द अवधारणार्थ है, और उसीसे वह सुखपूर्वक सन्मार्ग में चला जाता है।

प्रकरण के अर्थ को विचारने का अनन्तर फल कहा, अब परम्पर फल कहते हैं—

इय धम्मरयणपगरण-मणुदियहं जे मणंमि भावंति।
ते गलियकलिलपंका-निव्वाणसुहाइं पावंति ॥१४५॥

मूल का अर्थ—इस प्रकार धर्मरत्नप्रकरण को जो नित्य मन में विचारते हैं, वे पापपंक से रहित होकर निर्वाणसुखों को पाते हैं।

टीका का अर्थ—यह अनन्तरोक्त धर्मरत्न का प्रतिपादक अर्थात् शास्त्रविशेष सो धर्मरत्नप्रकरण उसे अनुदिवस अर्थात् प्रति-दिन—उपलक्षण से प्रतिप्रहर आदि भी जान लेना चाहिये। जो कोई आसन्नमुक्तिगामी जीव मनन करते हैं अर्थात् विधिपूर्वक चिन्तवन करते हैं, वे शुभ शुभतर अध्यवसायी होकर पापपंक से रहित होकर निर्वाण के सुखों को पाते हैं। निर्वाण अर्थात् सिद्धि। जिससे आधार में आधेय का उपचार करते यहां निर्वाण शब्द से निर्वाणगत जीव अर्थात् सिद्ध जानना चाहिये।

वे सिद्ध गति, स्थान और अवगाहना से, इस प्रकार सूत्र में विचारे हुए हैं। वहां गति इस प्रकार है—

तुम्बा, एरंड फल, अग्नि, धूम्र, धनुष से छूटा हुआ बाण, इनके समान पूर्वप्रयोग से सिद्धों की गति है। अलोक से प्रतिहत होकर सिद्ध के जीव लोकाग्र में रहते हैं। वे यहां शरीर छोड़कर वहां जा सिद्ध होते हैं।

स्थान इस प्रकार है—इषत्प्राग्भार-शिला से एक योजन पर लोक का अन्त है, और सर्वार्थसिद्धि विमान से बारह योजन पर सिद्धि है। निर्मल पानी की बिन्दु, बरफ, गोक्षीर और हार के समान वर्ण, वाली अर्थात् श्वेत और औंधे छत्र के आकार की सिद्धशिला जिनेश्वर ने कही है। सिद्ध-शिला की परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ ऊनपचास योजन है। वह अति मध्यदेश भाग में अर्थात् ठीक बीच में आठ योजन जाडी है और किनारों पर पतली अर्थात् अंगुल के संख्यात भाग बराबर है।

अवगाहना सो सिद्धों का शरीर नहीं होने से सिद्ध जीवों के जीव-प्रदेश अवगाढ़ हुए (व्याप्त हुए) आकाश प्रदेश रूप से यहां लेनी चाहिये। वहाँ इषत् प्राग्भार के ऊपर के योजन का जो अन्तिम कोस है, उसके छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना है। तीन सौ तैंतीस धनुष और एक तृतीयांश धनुष यह उत्कृष्ट अवगाहना और चार हाथ में एक तृतीयांश कम, यह मध्यम अवगाहना है। जघन्य अवगाहना एक हाथ और आठ अंगुल है। यह सर्व अवगाहना शैलेशीकरण के समय रहे हुए शरीर से उसकी एक तृतीयांश कम और उसी के समान आकारवाली होती है। इसीलिए निर्वाणगत सुखों को अर्थात् सिद्धजीवों के सुखों को पाते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

सिद्ध के सुख आगम में इस प्रकार कहे हैं—

मनुष्यों को वह सुख नहीं, वैसे ही सर्व देवों को भी वह सुख नहीं, कि-जो सुख अव्याबाध पद पाये हुए सिद्धों को है। जैसे कोई म्लेच्छ नगर के अनेक प्रकार के गुण जानता हुआ भी कहने को समर्थ नहीं होता, क्योंकि-उसे वहां कोई वैसी उपमा मिल नहीं सकती (वैसा ही सिद्ध के सुखों के लिये भी जानो।)

म्लेच्छ का उदाहरण इस प्रकार है—

कोई राजा अपने नगर से उलटा सिखाये हुए घोड़े द्वारा वन में आ पड़ा, वहां वह भूख-प्यास से पीड़ित हुआ। जिससे वह झाड़ के नीचे जा पड़ा इतने में किसी पुलिंद ने (म्लेच्छ ने) करुणा लाकर उसे निर्मल जल तथा फल देकर चैतन्य किया। अब उसकी सेना के आ पहुँचने पर वह कृतज्ञ राजा उक्त पुलिंद को अपने नगर में ले आया और वहां उसे उत्तम महल में रखा तथा उसे सुंदर वस्त्र पहिराये। तथा स्वादिष्ट मोदक आदि दिव्य

आहारों से उसे खुशी किया। अब किसी समय वह पुलिंद अपनी जन्मभूमि का स्मरण करने लगा।

यह जान कर राजा ने उसे विदा किया, तब वह अपने वन में गया और स्वजनों से मिला, तो उन्होंने पूछा कि-तूं कहां पहुँचा था? वह बोला कि-एक राजा मुझे नगर में ले गया था, वे बोले कि-नगर भला कैसा होगा? पुलिंद बोला कि-इस पल्ली के समान। वे बोले कि-वहां तूं कहां ठहरा था? पुलिंद बोला कि-मणिमय महल में। वे बोले कि-महल कैसा होगा? पुलिंद बोला कि-झोंपड़े के समान। वे बोले कि तूं ने क्या पहिरा? पुलिंद बोला कि-रेशमी कपड़े। वे बोले कि-वे कैसे थे? उसने उत्तर दिया वल्कल के समान। वे बोले कि-क्या खाया? पुलिंद बोला कि-लड्डू (मोदक) वे बोले कि-वे कैसे होते हैं? पुलिंद ने उत्तर दिया कि-पके हुए बिल्व के समान।

इस भांति अटवी प्रसिद्ध दृष्टांतों से वह नगर से अपरिचित स्वजनों के सन्मुख नगर का स्वरूप वर्णन करने लगा। वैसे ही सिद्धिसुख को बराबर जानते केवलज्ञानी वैसी उपमा के अभाव से उसे नहीं कह सकते तथापि कुछ उपमाओं द्वारा मैं उसको कहता हूँ।

जैसे कोई सकल आधि-व्याधि से रहित, मधुर आहार से तृप्त शरीर वाला, कला-कुशल, चतुर मित्रों से परिवरित तरुण पुरुष, कान को सुख देनेवाला किन्नरों से गाया हुआ सरस गान सुनता हुआ, और नाना हाव-भाव से रमणीय स्त्रियों का नृत्य देखता हुआ, तथा फूल, कस्तूरी कपूर और चंदन की सुगंधि से नाक को प्रसन्न करता हुआ, वैसे ही कपूर से भरे हुए उमदा तांबूल से मुख को सुवासित करता हुआ, और रेशमी वस्त्र से ढांके हुए बड़े पलंग पर बिछे हुए हंस-तूलिक (मुलायम

गद्दी) पर सोया हुआ और कोमल व हंसमुखी कामिनियों के हाथ से चंपी कराता हुआ। इस प्रकार समस्त अनुकूल विषयों, का सेवन करता हुआ जो सुख पाता है, वही सुख एक सिद्ध जीव के सुख के अनंतवें भाग के बराबर भी नहीं।

आगम में भी कहा है कि—जैसे कोई पुरुष सर्व काम-गुण युक्त भोजन करके भूख, तृषा से विमुक्त होता है, तो खूब, तृप्त हुआ कहा जाता है। वैसे ही अनुपम निर्वाण को पाये हुए सिद्ध सर्वकाल तृप्त रहकर शाश्वत और अव्याबाध सुख को पाकर सुखी बने रहते हैं।

भावार्थ यह है कि-भली भांति सिद्धांत के अर्थ की विचारणा करते, उसमें कही हुई क्रिया में प्रवर्तित प्रतिक्षण बढ़ते हुए उत्तरोत्तर शुभ अध्यवसाय रूप नीर के पूर से सकल घाति-कर्म का कलुषता को धो डालने वाले संपूर्ण कलायुक्त केवलज्ञान के बल से लोकालोक को देखने वाले, जघन्य से अंतर्मुहूर्त पर्यंत और उत्कृष्ट से देश-कम पूर्वकोटि पर्यंत पृथ्वीतल को पावन करते और शैलेशीकरण से सकल भवोपग्राहि कर्म की प्रकृतियों का क्षय करने वाले भव्यजीवों को क्षेत्र काल-संघयण आदि समग्र भारी सामग्री वश परंपरा से निर्माण सुख की प्राप्ति होती है, यह बराबर संभव है।

इस प्रकार श्री धर्मरत्न ग्रंथ की टीका समाप्त हुई है।

प्रशस्ति

विष्णु के समान जिनप्रभु के तीन पद (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) अखिल जगत् में व्याप्त हैं, वे सद्धर्मरत्न के सागर श्री वीरजिन जयवान रहो। कुंद के पुष्प समान उज्वल कीर्ति से सकल भुवन के आभोग को (विस्तृत प्रदेश को) सुगंधित

वाले, और सैकड़ों इन्द्रों से नमित पद युक्त श्री गौतम गणधर (हमारा) रक्षण करो। तदनंतर सुधर्मस्वामी तथा जंबू स्वामी और प्रभव स्वामी आदि श्रुतसागर के पारगामी अनेक मुनीश्वर वृन्द (हमारे) श्रेयस्कर होओ।

इस भांति परंपरा से चित्रावालक (चित्रवाल नामक) गच्छ में कवीश्वरों की श्रेणी रूप आकाश में श्री भुवनचन्द्र नामक महान् तेजस्वी गुरु उदय हुए। उनके शिष्य प्रशम गुण के मंदिर पूज्य देवभद्र गणि हुए। वे पवित्र सिद्धांत रूप सुवर्ण की कसौटी के समान और जगद्विख्यात महागुणवान थे। उनके पाद-पद्म में भ्रमर समान, निःसंग, श्रेष्ठ उच्च संवेगवान्, जगत् में शुद्ध-बोध फैलाने वाले जगच्चन्द्रसूरि हुए। उनके दो शिष्य हुए, प्रथम श्रीमान् देवेन्द्रसूरि और द्वितीय श्री विजयचंद्रसूरि हुए जो कि अनुपम कीर्तिवान थे। उनमें के श्रीमान् देवेन्द्रसूरि ने स्वपर के उपकार के लिये धर्म-रत्न नामक ग्रंथ की सुखबोधा (सुख से समझी जा सके ऐसी अथवा उक्त नाम वाली) यह टीका रची है।

इस टीका की प्रथम प्रति गुरुजन में अनुपम भक्तिमान्, विद्वान विद्यानन्द ने आनंदित मन से लिखी है। वैसे ही इसका उसी समय श्री हेमकलश उपाध्याय तथा पंडितवर्य्य धर्मकीर्त्ति आदि स्वपर सिद्धांत में कुशल विद्वानों ने संशोधन किया है।

(तथापि) अल्पमति से इस शास्त्र में जो कुछ सिद्धान्त विरुद्ध कहने में आ गया हो, उसे तत्वज्ञ विद्वानों ने सुधार लेना चाहिये। बहुत अर्थ और अल्प शब्द वाले इस शास्त्र को रचने में मैंने जो पुण्य प्राप्त किया है, उसके द्वारा जगत् को भी धर्म-रत्न की प्राप्ति होओ।

——×——